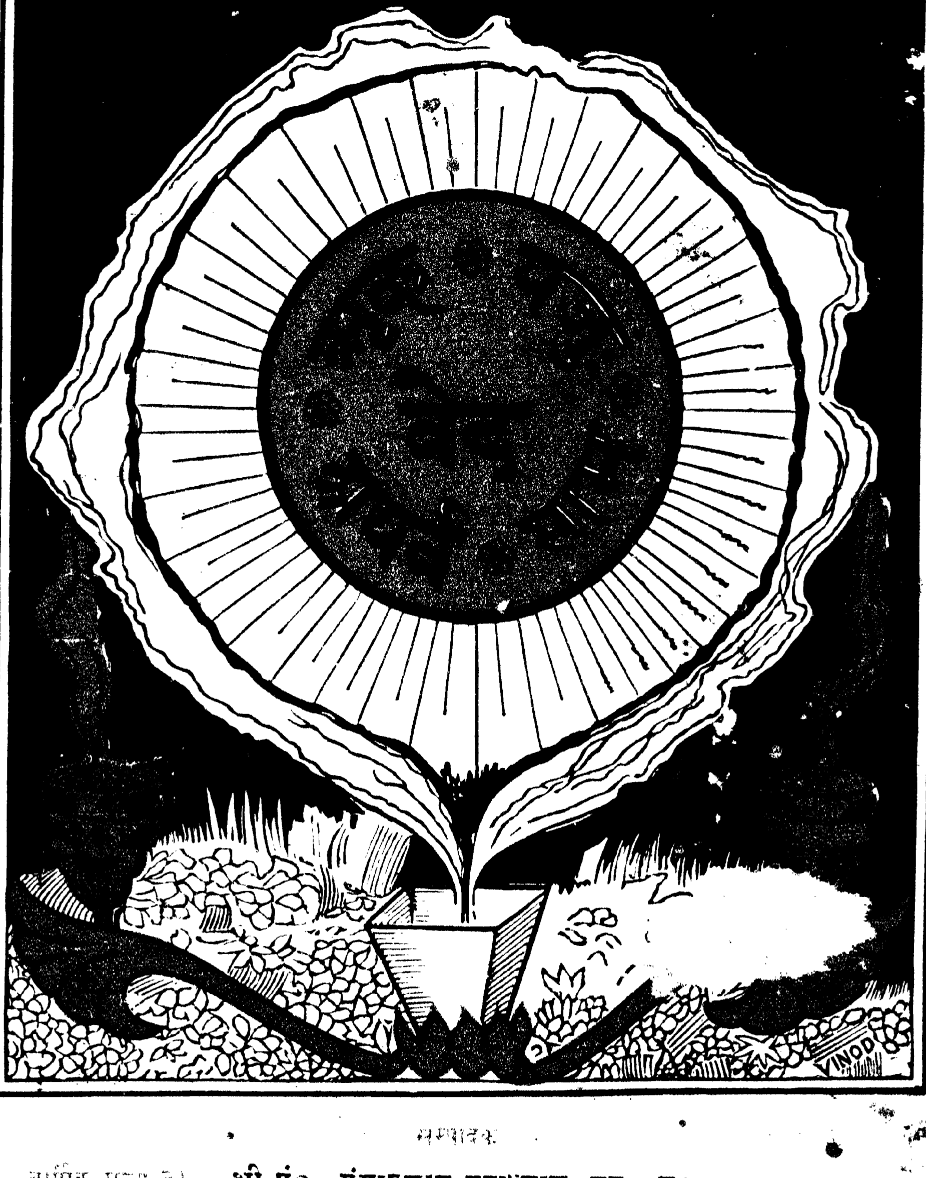
भाग ५] मई, सन १९३७ [पूर्ण संख्या २६

वेदोदय



सम्पादक
श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०
श्री विश्वप्रकाश, बी० ए०, एल-एल० बी०

वार्षिक मूल्य ३)
विदेश के लिये ४॥)
एक प्रति ।)

विषय-सूची

वेदोदय के नियम

१—"वेदोदय"-प्रत्येक अंग्रेजी महीने की १ तारीख को प्रकाशित होता है।

२—वार्षिक मूल्य मनीआर्डर से २), वी० पी० से २।≈), विदेश से २॥), नमूने का अङ्क ।) के टिकट आने पर भेजा जाता है।

३—"वेदोदय" का वर्ष चैत्र मास से प्रारम्भ होता है, किन्तु साल के अन्दर किसी भी मास से ग्राहक श्रेणी में नाम लिखाया जा सकता है।

४—पत्र आदि लिखते समय अपना पूरा पता और ग्राहक नम्बर स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिये। उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट आना चाहिये।

५—यदि ३ मास तक के लिए ही पता बदलवाना हो, तो अपने डाकखाने में ही प्रबंध कर लेना चाहिए। कार्यालय में तभी लिखना चाहिए, जब कि पता अधिक समय के लिए बदलवाना हो।

६—हर एक ग्राहक के नाम वेदोदय बड़ी सावधानी से कई बार जांच कर भेजा जाता है, यदि १५ ता० तक ग्राहक महाशय को पत्र न मिले, तो समझना चाहिए कि किसी सज्जन ने बीच में ही वेदोदय को ग़ायब कर लिया है। ऐसी दशा में पहिले अपने डाकखाने में लिखा-पढ़ी करनी चाहिये और इसपर भी वेदोदय न मिले, तो डाकखाने के जवाब सहित कार्यालय में इसकी सूचना भेजने पर दूसरी प्रति भेज दी जावेगी।

७—लेखों को छापने न छापने या न्यूनाधिक करने का अधिकार सम्पादक को है।



श्रीमती प्रेम कली देवी जी वानप्रस्थी

आप संयुक्त प्रान्त के महिला सुधार मण्डल की मन्त्री हैं। आर्य कन्या पाठशाला प्रयाग की मुख्याध्यापिका का कार्य करके श्री महात्मा नारायण स्वामी जी से वानप्रस्थ ले लिया है। आप अच्छी वक्ता है। और आर्यसमाज का प्रचार बड़ी लग्न के साथ करती हैं।

ओ३म्

वेदोदय

पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति विभासति

[अथर्ववेद १३ । ४ । १ । १]

जब वह उदय होता है तो पश्चिम से पूर्व तक सब चीज़ें प्रकाशित हो जाती हैं।

From west to east are lit up all, when he rises & shines.

भाग ५	वैशाख संवत् १९८९, दयानन्दाब्द १०८, मई १९३२ आर्यसंवत्सर १९७२९४९०३३	संख्या २ पूर्ण सं० २६

पाप

छिपे छिपे चोरों से आते हो घुस मनमें हे शैतान !
छूटेगी कब यह चोरी की बान ।
बाना पहन पहन पुण्य का आते फिर हो जाते क्यों तुम पाप ।
बिना बुलाये आते अपने आप ॥
मधुर स्वाद के मोदक में छिप आ जाते हो विष के व्याल ।
धीरे धीरे डसते हो हे काल !
कभी कभी सोते सपने में हर लेते जीवन का सार ।
छलियों का सा छद्मित यह व्यवहार ॥
हृदय लोक में मचवा देते हो तुम देवासुर संग्राम ।
विजय तुम्हारी ही होती अविराम ॥
पाप श्यामता से रंग जावे हृदय पटल मेरा भी श्याम ।
तो फिर चमक उठेगा उसमें श्वेत शुभ्र प्रभु तेरा नाम ॥

—सत्यप्रकाश



हमारे उपदेशक

[१]

आर्य्यसमाज में जो उपदेशक हैं उनकी ३ कोटियां हो सकती हैं। (१) भजनीक प्रतिष्ठित क्लाश (२) सन्यासी (३) उपदेशक। इन तीनों की संक्षिप्त मीमांसा की जावेगी।

भजनीक को हम प्रतिष्ठित क्लास में रक्खेंगे। यह क्यों ? जितनी प्रतिष्ठा इनकी होती है उतनी और किसी की नहीं। हमारे उत्सवों पर भजनीक महाशय अच्छी संख्या में बुलाये जाते हैं। यदि उत्सव में दो सन्यासी या दो उपदेशकों के आने की स्वीकृति मिल जावे तो उससे काम नहीं चलता। लोग यही प्रश्न करते हैं कि किन की भजनमण्डली आ रही है। अक्सर उत्तम भजन मण्डली के न मिलने के कारण हमारे उत्सव स्थगित कर कर दिये जाते हैं। यह क्यों। हम भजनीकों का विशेष आदर करते हैं। इतना आदर करते हैं जितना उपदेशकों या सन्यासियों का नहीं।

भजनीक या बाजा बजाने वालों का किस तरह आरम्भ हुआ ? धर्म ऐसी शुष्क चीज समझी जाती है कि लोग उसका सुनना आवश्यक नहीं समझते हैं। इस लिये लोगों ने सोचा कि कोई ऐसी आकर्षक चीज निकालना चाहिये जिनसे लोग आकृष्ट होकर आ सकें। संगीत में अधिक आकर्षण होता है। हारमोनियम या सितार की मधुर ध्वनि ऐसी होती है कि मनुष्य क्या पशु भी आकृष्ट होकर चले आते हैं। इस लिये लोगों ने सोचा कि यदि भजनीक रक्खें जावेंगे तो लोग संगीत प्रेम से उस ओर आकृष्ट हो जावेंगे। जिस समय यह भीड़ जमा हो जावेगी तो हम अपने धर्म के दो चार

कलमें सुना देंगे। एक भजन होगा, फिर एक व्याख्यान होगा, फिर भजन होगा फिर व्याख्यान होंगे। कुनेन पर मीठी शकर का जो काम है वही इन भजनों का होगा।

इस विचार शृङ्खला में कोई गल्ती नहीं हैं। पर ज़रा जाकर जानता में बैठ जाइये और देखिये कि इसका क्या प्रभाव होता है। हमारे उत्सव प्राय: भजनों से आरम्भ होते हैं। जनता संगीत प्रेम से आकृष्ट हो होकर जमा हो जाती है। प्रधान जी कुरसी पर आ विराजते हैं। यदि भजनीक अच्छे आये होते हैं तो उनके नाम प्रधान जी बड़े गर्व के साथ सुना देते हैं। शर्मा हुजूरी से उपदेशकों के नाम भी सुना दिये जाते हैं। परन्तु जब किसी उपदेशक के व्याख्यान की सूचना देते हैं तो इतना जरूर कह देते हैं कि अभी आप लोग बैठे रहिये, बहुत अच्छे अच्छे भजन होंगे। इससे पता चलता है कि हम किस प्रकार सोचते हैं।

जब भजनीकों की इतनी महिमा है कि उनके विना उत्सव नहीं हो सकते तो उनका आदर भी अधिक होता है। बिचारे उपदेशक या सन्यासियों को जल पान या भोजन समय पर न मिले परन्तु भजनीकों का बड़ा ध्यान रक्खा जाता है। नगर कीर्तन के दिन तो वे जो चीज माँगे तुरन्त उसका प्रबन्ध कर दिया जाता है। ज़रा सी देर हुई कि वे रूठ जाते हैं और हमारे मन्त्रियों को उनके हाथ जोड़ कर खुशामद करनी पड़ती हैं।

कुछ भजनीकों का परिचय दिया जाता है:—

(१) क को हिन्दी अच्छी तरह नहीं आती, पर संस्कृत में टांग अड़ाते हैं। भजन गाना काम है पर बिना वेद मन्त्र बोले कल नहीं पड़ती। अशुद्ध है तो अशुद्ध ही सही।

(२) ख को ठण्डाई का बड़ा शौक है। सेर भर बादाम तथा सेर भर ठण्डाई से कम नहीं मंगवाते हैं, खाने के बाद जो बचता है वह पण्डित जी के ट्रङ्क में चला जाता है।

(३) ग को यह शिकायत रहती कि आर्यसमाजी आदर सत्कार नहीं करते। खाने के बाद पान देना भूल जाते हैं।

(४) घ का गला अक्सर खराब हो जाता है, आध पाव मलाई से कम में ठीक नहीं होता।

(५) ङ की पान की डिब्बी सदा खाली रहती है। अगर रोज चार बार नहीं भरी गई तो आफ़त आजावेगी।

(६) च को चार सेर दूध रोज मिलना चाहिये। अगर नाराज़ हो गये तो दूध का कुल्हड़ भरी सभा में दिखला देते हैं कि देखो भाई इस ज़माने में दूध इतना ही मिलता है।

(७) छ भरी मजलिस में ही गाना पसन्द करते हैं । अगर उन्हें ऐसा समय दिया गया जब जनता कम हो तो गाते ही नहीं हैं ।

(८) ज को सफ़ाई का बहुत ध्यान है । जलसा शुरू हो जाता है पर आप कपड़ा धोते रहते हैं ।

(९) झ को कचालू या दही बड़े का शौक है ।

(१०) ञ रंगीले सियार है । छिप छिप करके पी आते हैं फिर मद्य निषेध पर व्याख्यान की गर्जना होती है ।

(११) ट चरित्र-हीन हैं पर ब्रह्मचर्य्य पर मनोहर व्याख्यान रटा हुआ है ।

(१२) ठ बिना ढोल के नहीं गा सकते । चाहे काम रुके या चले ।

(१३) ड केवल करताल जानते हैं आपको एक तबलची तथा एक हार-मोनियम बजाने वाले की जरूरत होती है तभी आपका गर्दभ स्वर निकल सकता है।

(१४) ढ मार्गव्यय लेकर बैठ जाते हैं । जाने का नाम नहीं लेते ।

(१५) ण पहले से तय किये बिना नहीं चलते या कम मिलने पर लड़ते हैं और गाली दे बैठते हैं ।

इतनों का परिचय पर्याप्त है । अगर सब का परिचय दिया जाने लगे तो एक अच्छा ग्रन्थ तय्यार हो सकता है । अभी थोड़े दिन हुये एक आर्य्य समाज ने निश्चय किया था कि वह भजनीकों को निमंत्रण न देगा और इसकी विज्ञप्ति भी उसने निकाल दी थी । हमारा विचार है कि इन्हीं में से कोई महात्मा पहुंच गया हो गया । कहीं कहीं तो भजन मंडली भोजन मंडली के नाम से ही पुकारी जाती है ।

धर्मोपदेश करना प्रत्येक का कार्य्य नहीं और न प्रत्येक से यह काम लेना हो चाहिये । जब दुराचारी तथा मूर्ख धर्म के ठेकेदार बन जाते हैं, तो वे किसी अच्छे धर्म का प्रचार नहीं कर सकते । बहुतों की श्रद्धा तो ऐसे प्रचारकों के देखते ही धर्म से उठ जाती है ।

यहां कुछ भजनीकों का परिचय दिया गया है । इससे यह तात्पर्य्य नहीं कि सभी दुश्चरित्र हैं । कुछ तो उनमें से निस्सन्देह उत्तम विचार के सज्जन पुरुष हैं, पर इनकी गणना इनी गिनी है ।

ऋषि के ग्रन्थों की रक्षा

एक एक अक्षर और एक एक शब्द अपना महत्व रखते हैं। एक अक्षर का परिवर्त्तन होते ही भावों में बड़ा अन्तर पड़ जाता है। एक एक शब्द अर्थ का अनर्थ करने की क्षमता रखता है। परंतु दार्शनिक क्षेत्र में यह क्षमता विशेष बल पकड़ जाती है। जहां एक मात्रा दार्शनिक उलझन को सुलझा देती है वहाँ एक मात्रा की वृद्धि अनेकों उलझनें पैदा कर देती है।

ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का भी यही हाल है। ऋषि के ग्रन्थों का निर्माण बड़ी शीघ्रता से हुआ। ऋषि कई पंडितों को एक साथ लिखवाते थे और थोड़े से काल में इतने ग्रन्थों का निर्माण करना उनकी अपूर्व प्रतिभा का द्योतक है। कुछ ग्रन्थों का ऋषि के जीवनकाल में संशोधन हो चुका था। ऋषि की मृत्यु के बाद यद्यपि विशेष सावधानी के साथ पुस्तकें छापी गई तिसपर उनमें अशुद्धियां रह गई हैं।

श्रीमती सार्वदेशिक आर्य्यप्रतिनिधि सभा की 'धर्मार्य्यसभा' ने ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों को छापे आदि के कारण संक्रान्त अशुद्ध पाठों से मुक्त कराने का निश्चय किया है, किन्तु यह तभी संभव है, जब ऐसी समस्त अशुद्धियों की एक सूची बन जाए। इसके लिए आर्य्यविद्वानों से प्रार्थना है वे ऐसी सब अशुद्धियों की सूची बनाकर श्री स्वामी वेदानन्द तीर्थ, आर्यसमाज मन्दिर, डिंगा (पंजाब) के पते से भेजने की कृपा करें। जो सब ग्रन्थों या किसी एक सारे ग्रन्थ की अशुद्धियों का संग्रह न कर सकते हों वे किसी भी भाग की अशुद्धियां संग्रह कर दें। उन सब अशुद्धियों पर पूर्ण विचार कर धर्मार्य्य सभा कोई अन्तिम निर्णय कर सकेगी। आशा है, समस्त आर्य्य विद्वान् इस कार्य्य में सहयोग देने की कृपा करेंगे।

साहित्याचार्य्य पण्डित पद्मसिंह शर्म्मा

साहित्याचार्य्य पं० पद्मसिंह शर्म्मा इस संसार में नहीं रहे। उनका नश्वर शरीर नष्ट हो गया। पर शर्मा जी मृत नहीं हुये। उनकी विमल कीर्त्ति अब भी विद्यमान है। उनकी साहित्यक कृतियाँ उनका नाम अमर रखने के लिये समुचित हैं। पं० पद्मसिंह शर्म्मा संस्कृत, फार्सी, उर्दू के विद्वान थे। हिन्दी भाषा पर उनका प्रभुत्व था। श्री मंगलाप्रसाद पारितोषिक सब से पहले शर्म्माजी ही को मिला था।

हमारी ईश्वर से प्रार्थना है कि उनकी आत्मा को सद्गति दे।

समालोचना

पौरस्त्य धनुर्वेद

लेखक श्रीयुक्त महेन्द्र कुमार जी वेद शिरोमणि, रिसर्चस्कालर स्नातक गुरुकुल वृन्दावन मूल्य ॥।)

यह पुस्तक हमारे नवयुवक विद्वान् मित्र ने बड़ी गवेषणा के साथ लिखी है। इसमें यह सिद्ध किया गया है कि धनुर्वेद में केवल तीर कमान का ही वर्णन नहीं है किन्तु तोप, बन्दूक आदि का भी विधान है और प्राचीन भारतीय इन सब अस्त्र शस्त्रों को जानते थे। भूमिका पं० नरदेव जी शास्त्री ने लिखी है। पुस्तक बहुत अच्छी है और लेखक महोदय की भविष्य की खोजों की आशा दिलाती है। श्री महेन्द्र कुमार जी को इसके लिये बधाई है।

युगान्तर—(मासिक पत्र) सम्पादक श्री सन्तराम बी० ए०, वार्षिक मूल्य २)।

मिलने का पता :—

युगान्तर कार्यालय, हास्पिटलरोड, लाहौर

"युगान्तर" जाति पांति तोडक मंडल का मुख पत्र है। इससे इसके उद्देश्यों का भली भांति परिचय मिल सकता है। हिन्दू समाज में जाति पाति की कुछ रूढ़िया ऐसी प्रचालित हो गई हैं जिनसे हिन्दू समाज की उन्नति में बड़ी बाधा पड़ रही है। युगान्तर एक जीता जागता पत्र है। हिन्दू समाज की समस्त बुराइयों पर कुठार चलाना इसका काम है। हमारा विश्वास है कि श्रीसन्तराम जी बी० ए० के सम्पादकत्व में "युगान्तर" एक नया युग ला देगा। ईश्वर इसको चिरायु करें, जिसमें हम समाजिक बेडियों को काट कर स्वतन्त्र हो सकें।

हंस — (आत्म कथा अङ्क) सम्पादक श्री प्रेमचन्द बी० ए०, प्रकाशक सरस्वती प्रेस, बनारस।

हँस का आत्म कथा अंक सम्पादक की नई सूझ का द्योतक है। हिन्दी भाषा में लेखकों को इससे पूर्व कोई ऐसा अवसर न मिला था कि वे अपने जीवन की घटनाओं का उल्लेख कर सकते। आत्म कथा अंक में हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखकों ने अपने हृदय को खोल दिया है। अनेक लेख बड़े ही मर्म स्पर्शी हैं। इनको पढ़ने से एक बात का अनुमान हो सकता है कि लेखक का जीवन कितने दुख तथा त्याग का जीवन है। इस अंक के एक एक लेख मोतियों की लडियां हैं और एक एक मोती मानव हृदय को चीर कर निकाला गया है। सम्पादक बधाई के पात्र हैं।

(२६)

मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम् ।

मृला सुक्षत्र मृलय ।

(ऋ० ७।८९।१)

(सु राजन् वरुण) हे अच्छे राजा वरुण अर्थात् प्रकाश युक्त ईश्वर (अहं) मैं (मृन्मयं) मिट्टी के (गृहं) घर को (मा उ गमम्) न प्राप्त होऊं । (सुक्षत्र) हे भली भांति रक्षा करने वाले जगदीश्वर (मृल) मुझको सुख दीजिये । (मृलय) मेरे ऊपर दया कीजिये ।

इस मन्त्र में ईश्वर को 'राजन', 'वरुण' और 'सुक्षत्र' तीन शब्दों से सम्बोधित किया है । 'राजन्' का अर्थ है प्रकाश स्वरूप । 'वरुण' का अर्थ है ग्रहण करने योग्य । 'सुक्षत्र' का अर्थ है भली भांति रक्षा करने वाला । ईश्वर प्रकाश युक्त भी है और उससे अधिक कोई रक्षा करने वाला भी नहीं है । जब कोई रक्षक नहीं होता उस समय ईश्वर ही हमारी रक्षा करता है ।

इस मन्त्र में ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि हे प्रभु ऐसी दया कीजिए कि मुझे, यह मिट्टी का घर न मिले । 'मिट्टी के घर' से क्या तात्पर्य ? 'मिट्टी' का अर्थ है पंच भूत ! क्योंकि पृथिवी आदि ही पाँचभूत होते हैं । मिट्टी के घर से तात्पर्य है भौतिक शरीर से । हम मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की योनियों में पड़ कर ही तो पाप पुण्य का भोग प्राप्त करते हैं । जब तक जन्म मरण का जंजाल है उसी समय

तक हम मोक्ष के सुख से वंचित हैं। जब तक आवागमन रहेगा और इस भौतिक शरीर का साथ रहेगा उस समय तक हमारे लिए मोक्ष पाना असम्भव है। वस्तुत: शरीर के पचड़े से छूटना जाता ही मोक्ष है। इस भौतिक शरीर के होते हुए हम प्रकृति के आश्रय से भी नहीं छूट सकते। शरीर में रहते हुये हम सर्वथा प्रकृति की ओर प्रवृत्त रहते हैं। हमारी मानसिक प्रवृति भी प्राकृतिक पदार्थों में ही लगी रहती है। न केवल इतना ही है कि शरीर की समस्त आवश्यकतायें पृथ्वी आदि पदार्थों से पूरी होती हैं किन्तु इस से भी अधिक यह बात है कि जब तक शरीर बना है आत्मा भी शरीर का ही अनुरूप हो जाता है और वह शारीरिक बातें ही सोचता है। इस प्रकार यह मिट्टी का घर मनुष्य को ऐसा जकड़ लेता है कि उससे छुटकारा मिलना कठिन होता है। कोई स्वयं अपने आप इस मिट्टी के घर को छोड़ नहीं सकता। जब तक हमारी प्रवृत्ति सांसारिक बिषयों की ओर लगी हुई है उस समय तक कोई आशा नहीं की जा सकती इसी लिये ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि हमको इस मिट्टी के घर से किसी प्रकार छुटकारा मिले। यह तभी हो सकता है जब हमारा मन प्रकृति से हट कर ईश्वर की ओर लगे। ज्यों ही हम ईश्वर की ओर मन लगायेंगे हमारा सम्बन्ध शनैः २ प्राकृतिक पदार्थों से कम होता जायगा और अन्त में एक दिन ऐसा आयेगा कि प्रवृतियाँ कम होने के कारण हम शरीर के आधिपत्य से मुक्त हो जायगे।

राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द

[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०]

(गतांक से आगे)

केशव बाबू के आरम्भ और अन्त के विचारों की शृङ्खला पर ध्यान देने से एक विशेष शिक्षा मिलती है। उनके विचार एक विलक्षण वृत्ताकार मार्ग में घूमते हैं। वह मूर्तिपूजा की घृणा से आरम्भ करते हैं, फिर ईसाई धर्म की ओर झुकते हैं और ईसा को पहले महा पुरुष और फिर ईश्वरावतार के लगभग मान लेते हैं, फिर ईसा के अवतार को हिन्दू अवतारों से मिलाते हैं, फिर हिन्दू देवताओं को ईश्वर का अंश मानने लगते हैं और हिन्दू मूर्तिपूजा को कुछ कुछ प्रशंसा की दृष्टि से देखने लगते हैं। सम्पूर्ण वृत्त पूरा हो जाता है केवल थोड़ा सा स्थान शेष रह जाता है। स्वामी दयानन्द अवतारों को वेद विरुद्ध, धर्म-विरुद्ध, युक्ति-विरुद्ध और असम्भव सिद्ध करके मूर्तिपूजन की जड़ को ही उड़ा देते हैं।

ईसाई लोग मूर्ति-पूजा के खण्डन का दावा करते हैं और हिन्दुओं की मूर्तियों का मखौल उड़ाते हैं। इसका उत्तर राजाराममोहनराय ने अच्छा दिया था। केशवचन्द्र सेन तो ईसाइयों की चमक दमक के शिकार हो गये। वस्तुतः बात यह है कि जब तक ईसा को ईश्वर का अवतार मानते रहेंगे उस समय तक ईसाई लोग मूर्तिपूजा से बच नहीं सकते। इसी भावना ने कैथोलिक लोगों को ईसा और माता मरियम की मूर्ति पूजने के लिये तत्पर किया और यही भाव अनेक रूपों में ईसाइयों के भिन्न २ सम्प्रदायों में पाया जाता है। स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा को जिस ढङ्ग से खण्डन किया है उससे इसका मूल ही उड़ गया है।

मूर्ति-पूजा-खण्डन का काम मुसलमानों ने भी बड़े जोरों से किया था। मुहम्मद साहेब को पैगम्बर मानते हुए भी किसी मुसलमान ने उनकी मूर्ति नहीं पूजी। परन्तु उनको भी काले-पत्थर को पूजना ही पड़ा। इसके अतिरिक्त उन्होंने मूर्तिपूजा खण्डन के बजाय मूर्ति-खण्डन आरम्भ कर दिया। उन्होंने मूर्तियां बनाना ही दूषित बता दिया। स्वामी दयानन्द ऐसा नहीं कहते। वह कहते हैं कि मनुष्य की स्मारक मूर्तियां तो बन सकती हैं परन्तु ईश्वर निराकार है और कभी साकार नहीं हो सकता इसलिये न उसकी मूर्ति बन सकती है न कल्पना ही करनी चाहिये।

राजाराम मोहनराय जी ने वेदान्त

और उपनिषदों का शांकरभाष्य पढ़ा था और उसी का अंगरेज़ी अनुवाद भी किया था। उनको वेद पढ़ने का अवसर नहीं मिला था। परन्तु वेदान्त आदि के आधार पर वह वेदों पर श्रद्धा रखते थे। श्री शङ्कराचार्य्य तथा अन्य आधुनिक पण्डितों का अनुकरण करके उन्होंने उपनिषदों को भी वेद ही मान लिया था। इसलिये मूल वेद अर्थात् ऋक्, यजुः, साम, अथर्व के विषय में कोई लेख अनुवाद या उद्धरण राजा राममोहनराय के लेखों में नहीं पाये जाते। रहे श्रीयुत् सेन बाबू! यह तो आङ्गल-सभ्यता के सुपुत्र थे। इन्होंने वेदों और संस्कृत ग्रन्थों को ढकोसला समझ कर छोड़ दिया था। परमहंस रामकृष्ण तथा अन्य सन्तों के उपदेशों से केवल वह हिन्दू-भक्ति की ओर आकर्षित थे। नव-विधान के जिस झंडे तले उन्होंने हिन्दू-शास्त्र मुसलमान शास्त्र, ईसाई शास्त्र और बौद्ध शास्त्र का संग्रह किया था, उन शास्त्रों में से उन्होंने अधिकतर ईसाई शास्त्र का ही अध्ययन किया था। उन्होंने एक व्याख्यान केवल ईसा के ही महत्व पर दिया था। अन्य महापुरुषों का केवल एक ही व्याख्यान में वर्णन कर दिया था। परन्तु स्वामी दयानन्द की परिस्थिति सर्वथा भिन्न थी। उन्होंने वेद वेदाङ्ग पढ़े थे। अन्य धर्म वालों के ग्रन्थों का तो उन्होंने केवल अन्त में शास्त्रार्थ करते समय अध्ययन किया था। वेद वेदाङ्ग के पढ़ने में उन्होंने निरन्तर और एकाग्र चित्त होकर परिश्रम किया था। वह शांकर-भाष्य या अन्य भाष्यों को प्रमाणिक नहीं समझते थे। वह मूल का अध्ययन करके उस पर विचार करते थे। इसलिये उन्होंने सबसे पहले भिन्न २ लोगों के किये हुये वेद-भाष्य तथा शास्त्र-भाष्यों की त्रुटियां दिखाईं और अपना भाष्य करके अपना मार्ग निश्चित किया। भाग्यवश दयानन्द संस्कृत के धुरन्धर पण्डित थे। इसलिये वह मूल ग्रन्थों पर मौलिक विचार कर सकते थे। राजाराममोहन राय जी संस्कृत के विद्वान् अवश्य थे। परन्तु उनका चित्त बटा हुआ था। उन्होंने गृहस्थ का जीवन व्यतीत करते हुये उस सर्वथा प्रतिकूल समय में इतना किया वह बहुत किया। यदि दयानन्द के समान वह भी सन्यासी होकर केवल हिन्दू-धर्म सुधार में ही लगे रहते तो संभव था कि वह भी उसी परिणाम पर पहुंचते जिस पर स्वामी दयानन्द पहुंचे थे। परन्तु राजकीय झंझटों और अन्यान्य सांसारिक बातों ने राजाराम मोहनराय को इतना अवसर ही नहीं दिया। फिर भी वह इतने बुद्धिमान् और अनुभवशील थे कि उन्होंने बड़ा प्रशंसनीय कार्य्य किया।

राजाराममोहनराय की स्वाभाविक प्रवृत्ति हिन्दूधर्म की ओर थी। और वह वेदों को प्रमाणित मानते थे। परन्तु वे

अपने इस सिद्धान्त को अपने जीवन में युक्तियों और प्रमाणों द्वारा रहना पुष्ट नहीं कर सके कि उनके भावी अनुयायी उस पर चल सकते। यही कारण था कि पुष्कल सामग्री के अभाव के कारण श्रीयुत् महर्षि देवेन्द्रनाथ टागोर को अपनी इच्छा और प्रवृत्ति के विरुद्ध केशवचन्द्र के ब्रह्मसमाज में आने से बहुत पूर्व १८५० ई० में ही वेदों की प्रामाणिकता ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों से हटानी पड़ी थी। महर्षि देवेन्द्रनाथ ऐसा करने पर मजबूर थे। दृढ़ विश्वास होते हुए भी उनके पास सामग्री की कमी थी। लोग उन पर आक्षेप करते थे और वे निरुत्तर हो जाते थे। परन्तु स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा के विहित या अविहित होने के प्रश्न से भी पूर्व वेदों की प्रमाणिकता का विषय लिया था। वह कहते थे कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। जिस प्रकार ईश्वर आंख बनाने से पूर्व ही उसकी सहायता के लिये सूर्य्य को उत्पन्न करता है उसी प्रकार बुद्धि देनेसे पूर्व ही उसकी सहायता के लिये वेद का प्रकाश करता है। उनका सिद्धान्त था कि वेद सृष्टि के आरम्भ में हुये। उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रन्थ पीछे से हुये। इसलिये इनको वेद कहना नहीं चाहिये। सृष्टि के आरम्भ में होने के कारण वेदों में इतिहास नहीं। जहां कहीं इतिहास का आभास जान पड़ता है वह इतिहास नहीं किन्तु शब्दों के अर्थ समझने के कारण प्रतीत होता है। इसके लिये उन्होंने यास्क मुनि के निरुक्त से खोज कर एक और बात निकाली। उन्होंने कहा कि वेद आदि ग्रन्थ होने के कारण वैदिक शब्दों के अर्थ यौगिक या योगरूढ़ि हैं रूढ़ी नहीं। ऐतिहासिक नाम रूढ़ी हुआ करते हैं। आरम्भ में शब्द यौगिक अर्थ में ही आते हैं। जब समय व्यतीत हो जाता है तब यौगिक अर्थ न रहकर रूढ़ि अर्थ हो जाते हैं। उदाहरण के लिये सबसे पहले 'लखपति' शब्द यौगिक अर्थों में ही प्रयुक्त हुआ होगा। केवल उसी को लखपति कहते होंगे जिसके पास लाख रुपये रहे होंगे। परन्तु कालान्तर में 'लखपति' व्यक्ति वाचक संज्ञा होगया। इसका प्रमाण शतपथ ब्राह्मण के अध्ययन से मिलता है शतपथ में लिखा है कि 'भरद्वाज' व्यक्ति वाचक संज्ञा नहीं। इसका अर्थ है 'मन' क्योंकि 'भरद्वाज' दो शब्दों से मिलकर बना है भरट्* बाज' 'भरट' संस्कृत के 'भृ' धातुसे निकला है जिसका अर्थ है 'भरना'। 'बाज' नाम है अन्न का। इसलिये 'भरद्वाज' मन का नाम हुआ।

स्वामी दयानन्द के हाथ यह एक बहुमूल्य कुञ्जी आ गई। सायण आदि मध्यकालीन वेदभाष्यकारों ने यास्क को

*देखो शतपथ ब्राह्मण।

पढ़ा तो अवश्य था परन्तु न जाने उनके हाथ यह कुञ्जी क्यों न लगी। स्वामी दयानन्द ने इस कुञ्जी से वेदों की प्रत्येक कठिनाई को खोलना आरम्भ कर दिया। और उनको प्रतीत होने लगा कि इसकी सहायता से वह वेदों के ऊपर किये गये सभी लांछनों को दूर कर सकेंगे। जब किसी ने कहा कि वेदों में सूर्य्य, अग्नि आदि देवी देवतों की पूजा है तो उन्होंने वेदांगों के आधार पर सिद्ध किया कि 'देव' शब्द ईश्वर के अतिरिक्त साधारण मनुष्यों और चमकीली वस्तुओं के लिये भी प्रयुक्त होता है, जैसे यास्क मुनि निरुक्त में लिखते हैं कि—

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा इत्यादि

अर्थात् जो दान करे वह देव। जो प्रकाश करे वह देव। इससे उन्होंने परिणाम निकाला कि प्रत्येक देव पूजनीय नहीं है। केवल अग्नि को देव कह देने से अग्नि पूजनीय नहीं हो जाता। देव तो सहस्रों हैं। जिसमें प्रकाश देखो उसे कहलो। परन्तु पूजा केवल एक ईश्वर की ही करनी चाहिये क्योंकि वह देवों का देव महादेव है। इसी प्रकार जब किसी ने कहा कि वेद में 'कृष्ण' शब्द आया है तो स्वामी दयानन्द ने कहा कि यहाँ ऐतिहासिक कृष्ण से तात्पर्य नहीं। 'कृष्ण' शब्द के यौगिक अर्थ लीजिये। 'कृष्ण' शब्द के ऐतिहासिक अर्थ तो उन्हीं ग्रंथों में लिये जा सकते हैं जो 'कृष्ण' के पश्चात् बने हों।

इसी प्रकार जब ईसाइयों ने हिन्दू दर्शनों के दोष दिखलाये थे तो राजाराम मोहनराय ने उनका उत्तर दिया था। परन्तु वह मध्यकालीन दार्शनिक भेदों को दूर नहीं कर सके थे। क्योंकि वेदांत के शंकर-कृत तथा रामानुज-कृत आदि भाष्यों में सांख्य, वैशेषिक न्याय और योग आदि का स्पष्ट और विस्तृत खण्डन विद्यमान है। इसके होते हुये उनका समन्वय कठिन है। स्वामी दयानन्द ने इन भाष्यों को ही ग़लत माना और "ब्रह्मसत्य, जगत्-मिथ्या" वाद का खण्डन करके षड् दर्शनों का समन्वय कर दिया।

इसी के साथ स्वामी दयानन्द ने एक और सिद्धान्त ठहराया वह यह कि संसार के भिन्न भिन्न धर्म और भिन्न भिन्न भाषायें, चाहे एशियाई हों, चाहे यूरोपीय, केवल वैदिक धर्म और वैदिक भाषा का विकृत रूप हैं (विकसित रूप नहीं)। वह कहते हैं कि बौद्ध और पार्सी धर्मों में वेदों की बातें पाई जाती हैं। ईसाई धर्म बौद्ध धर्म की नक़ल है। मुसल्मानी धर्म ईसाई और पारसी धर्म का कुछ कुछ मिक्सचर है। बाबू केशवचन्द्रसेन ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया था नहीं तो वह 'ईसा' पर व्याख्यान देने के स्थान में 'बुद्ध' पर व्याख्यान देते

क्योंकि जो कुछ अच्छी बातें बाइबिल में पाई जाती हैं उन सब का उल्लेख बहुत पूर्व बौद्ध ग्रन्थों और बुद्ध के उपदेशों में आ चुका है। स्वामी दयानन्द के इस सिद्धान्त ने वैदिक धर्म या हिन्दू धर्म को उसके शुद्ध रूप में संसार के सभी धर्मों से उत्कृष्ट ठहरा दिया। उन्होंने १८६९ ई० में काशी के पंडितों से इस बात पर शास्त्रार्थ किया कि मूर्त्ति पूजा वेद विरुद्ध है। यह शास्त्रार्थ बड़े मारके का था। इसके पश्चात् उन्होंने मुसल्मान मौलवियों और ईसाई पादरियों से शास्त्रार्थ करके वैदिक धर्म के सिद्धान्तों की उत्कृष्टता दिखाई।

राजाराममोहन राय और महर्षि देवेन्द्रनाथ टागौर ने ब्रह्मसमाज के दरवाज़े सब के लिये नहीं खोले थे। बाबू केशवचन्द्रसेन ब्रह्म समाज को एक सार्वभौमिक चर्च बनाना चाहते थे और हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई, पारसी, बौद्ध हर किसी को ब्रह्म समाज में प्रविष्ट होने की आज्ञा थी। परन्तु केशव बाबू ने एक बात नहीं सोची थी। वह यह कि इन सब धर्म-ग्रन्थों और धर्म-सिद्धान्तों में परस्पर विरोध होते हुये यह लोग आपस में किस प्रकार मिलेंगे। यदि यह कहा जाय कि जिसको जो धर्म प्रिय हो वह उसी धर्म को माने, परन्तु मनुष्य के नाते से वह प्रेम-पूर्वक रहे। तो इस सिद्धान्त के आधार पर कोई चर्च नहीं बन सकता। केवल ऊपरी मेल हो सकता है। भिन्न भिन्न मत रखते हुये भी हम व्यापार, राजनीति, देश भ्रमण आदि कार्यों में एक हो सकते हैं। यह अभिप्राय बिना नया चर्च स्थापित किये भी हो सकता है। और यदि यह कहा जाय कि भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी अपने उन सिद्धान्तों को सर्वथा त्याग दें जिनमें मत भेद है और केवल उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर एक नया चर्च बना लें जो सब धर्मों में एक से हैं, तो यह भी असम्भव है। प्रथम तो लोग ऐसा करना चाहेंगे नहीं। दूसरे यदि चाहें भी तो संभव नहीं। उदाहरण के लिये एक सिद्धान्त लीजिये। बौद्ध जैन और वैदिक धर्मी पुनर्जन्म को मानते हैं। ईसाई, मुसल्मान नहीं मानते। अब इसका क्या इलाज है ? नया चर्च क्या करेगा ? न तो ईसाई मुसलमान पुनर्जन्म मानने पर राज़ी होंगे न हिन्दू छोड़ने पर। यह तो हो सकता है कि एक नया आचार्य उठे और सब धर्मों में से कुछ कुछ लेकर एक नया धर्म स्थापित कर दे और उसके सिद्धान्त अलग नियत कर दे। ईसाई, मुसलमान, हिन्दू या पारसी जो उन सिद्धान्तों को मानना चाहे वह अपने अपने पुराने धर्मों को छोड़कर नया धर्म स्वीकार कर लें ; जैसा मुहम्मद साहेब या अन्य धर्म के प्रवर्त्तकों ने किया। और केशव बाबू भी अन्त में करना चाहते थे। परन्तु यह तो रोग का

निदान नहीं किन्तु और भी बड़ा रोग है इसका सीधा अर्थ यह नहीं है कि हमने चारों धर्मों को मिला दिया। यों कहना चाहिये कि अब तक केवल चार ही धर्म थे। अब एक पांचवां और खड़ा होगया।

स्वामी दयानन्द ने कुछ भिन्न ही कहा उन्होंने कहा कि मैं कोई नया धर्म नहीं स्थापित करता। वैदिक धर्म में पीछे से जो दोष आ गये हैं उनको छोड़ दो। और शुद्ध सनातन वैदिकधर्म को ग्रहण करो। ईसाई मुसलमान, यहूदी, पारसी, बौद्ध, जैन, हिन्दू जो कोई वैदिक सिद्धान्त को मानना चाहे वह उस धर्म में शामिल हो सकता है। जाति पांति, बिरादरी आदि के रोग की उन्होंने यह औषध बताई कि जब कोई वर्ण जन्म से माननीय नहीं तो ईसाई, मुसलमान आदि के प्रवेश में क्या कठिनाई ? चाहे किसी का बाप पण्डित हो, या मौलवी या पण्डित जब वह वैदिक धर्म में आता है तो हम उसको वर्तमान गुण कर्म और स्वभाव के अनुसार ही मानेंगे। इस प्रकार १८७५ ई० में उन्होंने 'आर्य्यसमाज' नामक संस्था स्थापित करके सब के लिये उसका द्वार खोल दिया।

अन्य सामाजिक सुधारों के विषय में हम कह ही चुके हैं। राजाराममोहन राय सती की प्रथा के विरुद्ध थे और उन्होंने ईसाई मिशनरियों की सहायता से उसे बन्द कराया था। परन्तु वह इसको हिन्दू-धर्म के विरुद्ध नहीं सिद्ध कर सके थे। वह केवल इतना कहते थे कि किसी को सती होने के लिये बाध्य करना शास्त्र से विरुद्ध है। वह लिखते हैं :—

Ungeera and Vishnoo, and also the modern Rughoonundun authorize a widow to burn herself voluntarily along with the corpse of her husband; but modern Brahmuns, in direct opposition to their authority allow her relations to bind the mournful and infatuated widow to the funeral pile with ropes and bamboos, as soon as she has expressed a wish to perform the dreadful funeral sacrifice to which the Brahmuns lend a ready assistance. (*The works of Rajo Ram Mohan Ray, centenary edition page. 133.*)

अर्थात्—अङ्गिरा, विष्णु और आधुनिक रघुनन्दन ने स्त्री को पति की मृत्यु पर सती होने की आज्ञा मात्र दी है। परन्तु इसके विरुद्ध आजकल के ब्राह्मण रोती हुई विधवा को चिता से जबरदस्ती बंधवा देते हैं इत्यादि ! परन्तु स्वामी दयानन्द ने स्त्रियों के अधिकार हर बात में पुरुषों के समान बताये हैं। वह अङ्गिरा, विष्णु और रघुनन्दन आदि की बनाई हुई आधुनिक स्मृतियों को वेद विरुद्ध और कपोल कल्पित ठहराते हैं। वह कहते हैं

कि लोगों ने वेदों का मत न समझकर मनमानी बातें ऋषियों का झूठा नाम रखकर गढ़ली हैं। वेदों में सती की प्रथा की गंध भी नहीं। न स्त्री या शूद्र को वेद पढ़ने का निषेध है। न स्त्री के लिये उच्च-शिक्षा वर्जित है। न स्त्री के लिये यह आवश्यक है कि उसकी मंगनी छोटी आयु में ही कर देनी चाहिये। उन्होंने वेद मंत्रों को उद्धृत करके और पुराने ब्राह्मण ग्रन्थों को साक्षी देकर यह सिद्ध किया कि स्त्रियाँ वेद पढ़ती थीं पूरी आयु पर ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करने के पश्चात् विवाह करती थीं और कोई ऐसा अधिकार नहीं था जो पुरुषों के लिये हो और स्त्रियों के लिये नहीं। वर्णों को जन्म के आधार पर न मानकर उन्होंने अछूतों और शूद्रों के प्रश्न को बड़ी अच्छी तरह हल कर दिया था।

बाबू केशवचन्द्रसेन का अन्त में यह विचार हो गया था कि केवल निराकार ईश्वर की निराकार पूजा सर्वसाधारण को धर्म की ओर आकर्षित न कर सकेगी। इसीलिये उन्होंने बाजे गाजे के साथ संकीर्त्तनों की प्रथा डाली थी। वह मूर्तिपूजा को शामिल करना चाहते न थे। समस्या तो विकट थी। परन्तु यह कठिनाई उनको इसलिये पड़ी कि वह यज्ञ, हवन, यज्ञोपवीत आदि बाह्य चिह्नों को छोड़ चुके थे। स्वामी दयानन्द ने यज्ञों को भौतिक विज्ञान द्वारा व्याख्या करके उनकी श्रेष्ठता और अनिवार्यता पर बल दिया था। वह यज्ञों को धर्म का मुख्य अङ्ग समझते थे जैसा कि वेदों में कथन है। यज्ञ हवन जिस प्रकार योगियों और अध्यात्मवादियों के लिये आकर्षक होते हैं उसी प्रकार सर्व-साधारण के लिये भी। यही कारण है कि साधारण जनता, मूर्तिपूजा से विरुद्ध होते हुये और निराकार ईश्वर की निराकार उपासना करते हुये भी यज्ञ हवन में सम्मिलित होती और धर्म को नीरस और और शुष्क नहीं समझती।

स्वामी दयानन्द ने एक बात और की। उसकी ओर राजाराममोहन राय या केशवचन्द्र सेन का ध्यान नहीं गया। वह था आर्य्यभाषा या हिन्दी का प्रश्न। राममोहनराय जी ने जो कुछ किया वह केवल बङ्गाल के लिये। उनके समय का बङ्गाल था भी अलग थलग। केशवचन्द्र सेन ने अवश्य भारतीय-ब्रह्मसमाज स्थापित की थी। परन्तु उन पर अंगरेजी का इतना रंग जमा था कि वे अंगरेजी के द्वारा ही भारतीयता लाना चाहते थे उस समय के अंगरेजी पढ़ों में यह रोग भी था। आरंभ में केशव चन्द्र सेन को जब ब्रह्मसमाज में। बङ्गला भाषा में व्याख्यान देने होते थे तो वह उस उत्तमता से कृतकार्य्य नहीं हो सकते थे जैसे अंगरेजी में। उनके मुख्य मुख्य व्याख्यान अंगरेजी में ही दिये गये। एक

तमाशे की बात है। जब स्वामी दयानन्द केशवचन्द्र सेन से मिले उस समय वह केवल संस्कृत ही बोलते थे और पण्डितों से मूर्तिपूजा-विषयक शास्त्रार्थ करते थे। केशव बाबू ने स्वामी दयानन्द को सुझाया कि आप सर्व साधारण की भाषा में बोलिये। स्वामी दयानन्द ने उनके इस परामर्श को स्वीकार किया और आर्य्यभाषा अर्थात् हिन्दी में बोलने लगे। परन्तु आश्चर्य यह है कि केशव बाबू ने स्वयं अपनी बात पर कार्य्य नहीं किया। स्वामी दयानन्द गुजराती थे। उनकी मातृ भाषा गुजराती थी। उनको हिन्दी आती भी न थी। परन्तु उन्होंने विचारा कि यदि भारतवर्ष में हिन्दुओं और हिन्दूधर्म का सुधार करना है तो हिन्दी भाषा का प्रचार करना चाहिये। उनको निश्चय हो गया था कि यद्यपि संस्कृत देववाणी है और शिक्षित पण्डितों की भाषा है तो भी यह सर्व साधारण की मातृभाषा नहीं बन सकती। रही अंगरेजी यह तो हिन्दू सभ्यता के सर्वथा ही विपरीत थी। प्रत्येक भाषा अपने देश की सभ्यता तथा इतिहास तथा जातीय भावों की कोष होती है। यदि किसी देश में विदेशीय भाषा का संचार हो जाय तो उसकी सभ्यता में बहुत बड़ी उथल पुथल आजाती है। यह जानकर स्वामी दयानन्द ने हिन्दी को अपने लेख तथा व्याख्यानों का साधन बनाया और प्रत्येक आर्य्य सामाजिक के लिये आर्य्य भाषा सीखना आवश्यक बताया। स्वामी दयानन्द को हिन्दू, हिन्दी और हिंदुस्तान शब्दों से प्रेम न था वह इनको विदेशी समझकर अन्य विदेशी वस्तुओं के समान इनसे उपेक्षा करते थे वह हिन्दू के स्थान में 'आर्य्य' हिन्दी के स्थान में आर्यावर्त का शब्दों का प्रयोग करते थे परन्तु उनका तात्पर्य 'आर्य्यभाषा' और 'हिन्दुस्तान' के स्थान में इनसे वही था जो आजकल प्रायः लोग हिन्दू, हिन्दी और हिंदुस्तान से लिया करते हैं।

आर्य्यसमाज स्थापित करने से पूर्व स्वामी दयानन्द ने सभी भारतीय नेताओं से परामर्श लिया था। श्री केशवचन्द्र सेन जी से भी बातचीत की थी वह चाहते थे कि ब्रह्मसमाज या प्रार्थनासमाज को ही आर्य्य समाज का रूप दे दिया जाय यदि केशव बाबू के स्थान पर राजा राममोहन राय जी होते तो अवश्य ही ऐसा होने की आशा थी क्योंकि मूल में राय जी की भी वही इच्छा थी जो स्वामी दयानन्द की। परन्तु जो केशव बाबू महर्षि देवेन्द्रनाथ टागौर का ही साथ न दे सके वह स्वामी दयानन्द के अनुकूल कैसे होते? प्रार्थनासमाज औ ब्रह्मसमाज के लोगों से स्वामी दयानन्द का मतभेद वेदों की प्रमाणिकता पर था। वह लोग इस मर्य्यादा को स्वतन्त्रता के पथ में बाधा समझते थे। स्वामी दयानन्द देख चुके

थे कि मर्यादा रहित स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता का रूप धारण कर परतन्त्रता से भी अधिक हानिकारक सिद्ध होती है। केशव बाबू के नव-विधान का यही हाल हुआ था। इसलिये स्वामी दयानन्द अपनी बात पर अटल रहे और आर्य्यसमाज के नीचे लिखे दस नियम बनाये :—

नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्व-शक्तिमान्, न्यायकारी दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना योग्य है।

३—वेद सत्यविद्याओं का पुस्तक है; वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्यग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सबसे प्रीति-पूर्वक, धर्मानुसार यथा योग्य बर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

उन्होंने अपने वृहद्ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में ब्रह्मसमाज के विषय में लिखा है कि यह लोग स्वदेश प्रेम नहीं रखते। ऋषि मुनियों के स्थान में ईसा आदि की प्रशंसा करते हैं, अंगरेजी पर अधिक बल देते हैं और स्वदेशी वस्तुओं के स्थान में विदेशी वस्तुओं का प्रयोग करते हैं। केशव बाबू के ब्रह्मसमाज में यह सब बातें उपस्थित थीं। स्वामी दयानन्द इन्हीं के विरोधी थे। वे सुधार तो चाहते थे परन्तु स्वदेशी ढंग का। विदेशी सुधार

को सुधार नहीं किन्तु जातीय मृत्यु समझते थे। उन्होंने मनु का एक श्लोक उद्धृत करते हुये लिखा है कि एक समय आर्य्यावर्त सब देशों का गुरु था। इससे लोग आचार व्यवहार की शिक्षा लेते थे। आज यह ऐसा गिरा है कि अपने उच्च आदर्श छोड़कर दूसरों के निकृष्ट आदर्शों के पीछे दौड़ता है। वेद, हिन्दी और स्वदेश प्रेम की शिक्षा देकर स्वामी दयानन्द ने आर्य्य समाज को सार्वदेशिक बना दिया।

यहाँ एक गौण प्रश्न है। क्या स्वामी दयानन्द हिन्दू-धर्म-सुधारक थे? हमने यहाँ इसी नाते से राममोहनराय, केशव चन्द्रसेन और दयानन्द का साथ साथ उल्लेख किया है। उनके अनुयायियों में इस विषय में मतभेद है। बहुत से लोग स्वामी दयानन्द को हिन्दू-धर्म-सुधारक कहने में उनकी अवहेलना समझते हैं। हमारा इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर यह है कि यदि वर्तमान हिन्दू-धर्म को प्राचीन वैदिकधर्म का विकृत तथापि अन्य धर्मों की अपेक्षा निकटतम रूप समझा जाय तो शुद्ध वैदिक-धर्म का प्रचार करने के कारण स्वामी दयानन्द हिन्दू-धर्म-सुधारक अवश्य हुये। परन्तु यदि हिन्दू-धर्म के संकुचित और साम्प्रदायिक अर्थ लिये जायं तो उनको हिन्दू-धर्म सुधारक की अपेक्षा प्राचीन वैदिक धर्म-उद्धारक कहना अधिक उपयुक्त होगा। हमारी समझ में तो आशय एक ही है शब्दों का भेद है।

घर को फूंकना

कहानी

श्री विश्वप्रकाश बी० ए०, एल एल० बी

बाबू राधाचरण की लड़की सयानी हो चली थी। कायस्थ की जाति ठहरी जिसमें बड़े बड़े प्रयत्न करनेपर भी अच्छे लड़के नहीं मिलते। फिर विचारे आर्य्य-समाजिक थे इसलिये और कठिनाई थी। विचारे यही सोचते थे कि लड़का ऐसा ही मिल जावे जो मांस न खाता हो, शराब न पीता हो? और रुपया भी कम देना पड़े। क्योंकि रुपया कहां से आवेगा। नौकरी से इतनी आमदनी न थी, कि दो-चार हज़ार रुपया दे सकते। बेबसी थी।

जाड़े के दिन थे और इस साल शीत भी अन्य वर्षों से अधिक ही पड़ रहा था। रजाई बांधी, ट्रंक लिया और चल दिये। पर किधर चलें, ऊँट मक्के की ओर ही दौड़ता है। बाबू साहब लखनऊ की तरफ़ दौड़े। मित्रों ने एक लड़के के लिये पत्र दे दिये थे। लड़का मास्टर था, आर्य्यसमाजी तो नहीं था पर विचार नवीन आदर्श के ही ओर थे। बाबू साहब लड़के से मिल कर बहुत प्रसन्न हुये। दिल में गुदगुदी उठने लगी कि अगर यह लड़का मिल गया तो कहना ही क्या है। लड़के ने भी यह सम्बन्ध स्वीकार कर लिया था।

परंतु लड़का सुशील था और सुशील होने के यही माने हिन्दू घरों में लगाये जाते हैं कि अपनी शादी के विषय में कोई सम्मति न दें। अपने पिता को ही विवाह तय करने दें। न जाने ऐसे कितने ही सुशील हमने देखे हैं जो हैं तो पूरे आवारा, पर एक उनमें गुण अवश्य पाया जाता है कि वे शादी की बात-चीत नहीं करते हैं। पर बात कुछ और ही है। अगर लड़के ही बात-चीत करते तो इन आवारों को पूछता ही कौन? खैर बात कुछ भी हो, मास्टर साहब ने कहा—"बाबू साहब, आपने बड़ी तकलीफ़ की। मैं तो यही चाहता हूँ कि आपके साथ सम्बन्ध हो जाता। इसी में मेरा अहो-

...था है। आपके विचार भी अच्छे मालूम होते हैं।"

"तो मैं समझ लूं कि शादी पक्की हो गई।"

"हां मेरी तरफ से कोई बात नहीं। पर इसमें मेरा बहुत कम हाथ है। अगर पिता जी राज़ी हो जावें तो ठीक है। मेरे पक्का करने या न करने का कोई असर नहीं।"

निदान बाबू साहब ने पिता जी का पता ले लिया और पत्र व्यवहार करना शुरू कर दिया।

❀ ❀ ❀

गाड़ी स्टेशन पर रुकी। जल्दी-जल्दी मुसाफिर उतरने लगे क्योंकि मुश्किल से २ मिनट गाड़ी ठहरती है। बाबू साहब इलाहाबाद के रहने वाले थे। जब कभी रेल में आते तो कुली-कुली की पुकार लगाते। विचारे आदत से मजबूर थे। स्टेशन ज्योंही आया कुली-कुली चिल्लाने लगे। मुसाफिर हंसे—"अरे बाबू साहब, कुली-कुली चिल्लाते रहियेगा कि उतरियेगा? गाड़ी छूटना चाहती है।" किसी तरह लोगों ने असबाब उतरवा दिया।

छोटा सा स्टेशन था; मुश्किल से चार पांच आदमी उतरे होंगे। सब देहाती थे जिनकी आदत बोझा ढोने की होती है। उन्होंने अपनी अपनी गठरी सिर पर रख ली या बगल में दबा ली और चल दिये। बाबू साहब के पास एक ट्रंक था और जाड़े का बिछौना। दस पांच मिनट तक इधर-उधर कुली को देखते रहे। फिर निराश होकर पूछा—"क्यों भाई खुसरूपुर यहाँ से कितनी दूर होगा।"

"अरे यह क्या है?"

बाबू साहब बोले—"कै मील होगा"

"मील-मील क्या होता है? दो कोस होगा।" अब बाबू जी जान निकल गई। दिल में लगे सोचने बड़े बुरे फँसे। पर थे लाचार। कितनी देर इन्तज़ार करते, शहर के रहने वाले जो बाज़ार भी इक्के पर जाते हैं, आज उनको दो कोस चलना है। ऊपर से एक ऊँट का बोझा, दफतर से दो दिन की छुट्टी लेकर आये थे, इसलिये जल्दी से काम से निबट जाना भी था।

किसी तरह से सदूंक बगल में दबाये, और बिछौने सिर पर रख कर चल दिये। अगर रास्ते में कोई हँसता भी तो कह देते भाई लड़की की सगाई इसी तरह होती है। पर एक बात उनके दिल में और समाई। लड़की की शादी तय करने जा रहे हैं और बोझा सिर पर लदा है। लड़के वाला यह न समझे कि अच्छी हैसियत है। एक कुली तक साथ नहीं लाये। गांव भी नज़दीक आ रहा था। एक आदमी जाता हुआ नज़र आया "देखो भाई, यह असबाब इन बाबू साहब के यहां पहुँचा दो तुमको

चार पैसे इनाम मियेगा।" वह राजी हो गया अब क्या था? पूरी शान बन गई। आदमी ने जाकर अस्बाब रख दिया और पुकार लगाई।

लाला जी निकल कर आये और कुरसी पर बैठ गये। हुक्का की निगाली मुह में थी।

बाबू साहब—"मेरी चिट्ठी मिल गई होगी।"

"हाँ आई तो थी। पर बताइये कि आप खाइयेगा कहाँ?"

"कहीं खा लूँगा"

"क्या मुसल्मान के यहां"

"और कोई न होगा तो वहीं सही"

"बात यह है कि इस गांव में दो ही हिन्दुओं के घर हैं। एक मेरा और एक दूसरे साहब का। वह भी मेरे खान्दानी लगते हैं और आप वहां भी नहीं खा सकते। बाकी मुसलमान के हैं"

"पहले से नहीं मालूम था, नहीं तो इस कुली को और रख लेता। कहीं चना मिल जावैगा। गुजर हो जावेगी।"

"खैर कोई हर्ज नहीं, इन्तजाम हो जावेगा" लाला साहब ने एक बनिये के यहां से शर्बत, पानी का इन्तजाम कर दिया। बाबू साहब ने उसके पैसे दे दिये। जिन बाबू साहब ने कभी भी पाक न किया होगा, वह आज कर रहे थे। पहले जूता उतार दिया तब पानो पिया। सब इसीलिये कि लड़का अच्छा है और कहीं हाथ से न निकल जावे। दो दिन .. भी कर लिया जायगा तो क्या नुकसान।

उधर लाला जी की पैंठ निराली थी। आखिर ठहरे न लड़के के बाप। गर्दन ऊंची किये बैठे रहते। कभी कभी ऐसा मालूम होता कि शायद बात भी नहीं सुन रहे हैं। हूँ हाँ कर देते। "अच्छा अब शाम को बात चीत होगी" कह कर घर के अन्दर चले गये। दुपहरी भर खूब आराम किया, सोते रहे।

इधर बाबू जी को फिक्र थी कि शाम की गाड़ी न निकल जावे। लाला जी तीन बजे निकल कर आये।

"कहिये बाबू जी आपका घराना कैसा है?"

बाबू साहब ने दो चार बड़े रिश्तेदारों का नाम बता दिया चाहे उनसे बहुत दूर की रिश्तेदारी ही क्यों न हो दुनियां में यह नहीं देखा जाता कि आदमी की क्या हैसियत है। वह तो यही देखता है कि इसके कुटुम्ब में बड़े बड़े लोग हुये हैं या नहीं। इन रिश्तेदारियों को सुनकर बोले "हां घराना तो अच्छा है। शादी हो जाने में कोई हर्ज नहीं। लड़की कैसी है?"

"लड़की गोरे रंग की है। कोई खराबी नहीं है। चाहें तो किसी से दिखला सकते हैं। हिन्दी मिडिल तक पढ़ी है संध्या हवन, कर सकती है।"

"रामायण पढ़ी है या नहीं। पढ़कर सुना सकेगी।"

"हां खूब अच्छी तरह से"

"अभी आप होम-होम क्या कह रहे थे"

"मैंने कहा था कि हवन अच्छी तरह कर सकती है"

"औरतें और होम! भय्या मैं ब्याह नहीं कर सकता। घर फूंक देगी। अब तय हो गया। मुझे ऐसी औरत नहीं चाहिये एक तो जो होम कर सके और दूसरी जो महाभारत पढ़ सके।"

"आपका घर नहीं फूंक देगी"

"नहीं भय्या, अब तय हो गया।" लाला जी उठ बैठे और एक बात न सुनी।

× × × ×

"बाबू साहब कैसे आये?"

"एक पत्र लाया हूँ"

पत्र पढ़ कर "वाह खूब रहीं। लड़का लिखता है कि अगर विवाह करूँगा तो इन्हीं की लड़की से क्योंकि मैं वचन दे चुका हूँ।" अच्छे वचन देने चले हैं। मैं लड़के को अलग कर सकता हूं पर अपना घर नहीं फूंक सकता? बाबू साहब मैं कह ही चुका हूं कि होम करने वाली बहू घर फूंक डालती है।"

बाबू साहब मुंह लटकाये लौट आये।

एक मन्त्र के अनेक अर्थ

[श्री स्वामी वेदानन्दजी तीर्थ, पंजाब]

लौकिक काव्य में यदि श्लेषादि के बल से किसी श्लोक के एक से अधिक अर्थ कर दिए जाएं, तो किसी को आश्चर्य नहीं होता, अपितु कर्त्ता के पाण्डित्य की सराहना की जाती है। किन्तु वेद मन्त्रों के अनेक अर्थ देख कर कई लोग नाक भौं चढ़ाया करते हैं। यद्यपि यह वेद का भूषण और गौरव है। आज हम पाठकों के सामने एक ऐसा मन्त्र उपस्थित करते हैं, जिसका अर्थ भिन्न भिन्न ऋषियों ने भिन्न किया है। स्मरण रखिए, अर्थ भेद और अर्थ विरोध में महान अन्तर है। अस्तु ऋग्वेद ४। ५८। ३

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश।

१—व्याकरण के सूर्य्य महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी के लोकोत्तर व्याख्याता परम प्रमाण पदवाक्य प्रमाण पारावारीण महर्षि पतञ्जलि जी महाभाष्य में इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

चत्वारि शृंगाणि चत्वारि पद जातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादाः त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्त्तमानाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्त हस्तासो अस्य सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्धः उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीति शब्दं करोति। कुत एतत्? रौतिः शब्दकर्मा। महो देवो मर्त्यां आविवेशइति—महान्देवः शब्दः, मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्याः, तानाविवेश।

(महा० १ अ० १ आ०)

भाषार्थ—(चत्वारि शृङ्गाणि) चार पद अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग, और निपात। (त्रयो अस्य पादाः) तीन काल अर्थात् भूत भविष्यत् और वर्त्तमान। (द्वे शीर्षे) दो शब्द स्वरूप एक नित्य दूसरा कार्य्य। (सप्त हस्तासो अस्य) सात विभक्तियां (त्रिधा बद्धः) तीन स्थानों में बंधा हुआ, अर्थात् कण्ठ, छाती और सिर में। (वृषभः) वर्षण के कारण वृषभ कहलाता है। अर्थात् वर्षण कर्त्ता (रोरवीति) शब्द=ध्वनि आवाज करता है। यह अर्थ कहां से? रू धातु शब्दार्थक है (महो देवो मर्त्यां आविवेश) महान् देव=शब्द, मरण धर्म्मा मनुष्यों में आविष्ट हुआ।

तात्पर्य्य वैयाकरणों के मत से इस मन्त्र का अर्थ शब्द परक है !

२—नाट्याचार्य्य भरत मुनि जी भरतनाट्य शास्त्र में इस प्रकार व्याख्यान करते हैं—

"सप्त स्वराः, त्रीस्थानानि (कण्ठ हृदय-मूर्धानः), चत्वारो वर्णाः, द्विविधा काकुः, षडलंकाराः, षडङ्गानि ।"

अर्थात् सात स्वर, तीन स्थान (शब्दोत्पत्ति के कण्ठ, हृदय और मूर्धा ये तीन स्थान हैं), चार वर्ण दो प्रकार का काकु, छः अलंकार और छः अंग हैं ।

वेदार्थ के परम ज्ञानी मुनि यास्काचार्य्य जी अपने निरुक्त ग्रन्थ में इस मंत्र का अर्थ इस प्रकार दर्शाते हैं—

चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः । त्रयो अस्य पादाः इति सवनानि त्रीणि । द्वे शीर्षे प्रायणीयो दयनीये । सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि । त्रिधा बद्धः त्रेधा बद्धो मन्त्र ब्राह्मण कल्पैः । वृषभो रोरवीति रोरवमाणस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिर्यदेदमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्य जन्ति सामभिः स्तुवन्ति । महो देव इत्येष हि महान्देवो यद्यज्ञोः । मर्त्यों आविवेशेति एष हि मनुष्यानाविशति यजनाय ॥

(निरुक्त १३ अ० । ७ ख)

भावार्थ—(चत्वारि शृङ्गा) ये वेद कहे गए हैं, (त्रयो अस्य पादाः) तीन सवन = १ प्रातः सवन, २ माध्यन्दिन सवन और ३ तृतीय सवन (द्वे शीर्षे) प्रायणीय और उदयनीय दो सिर हैं (त्रिधा बद्धः) मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प [श्रौत्रसूत्र तथा गृह्यसूत्र] से बंधा है । (वृषभो रोरवीति) शब्दकारी यज्ञ के सवनों में ऋचाओं से आशंसन करते हैं, यजुर्मन्त्रों से यजन करते हैं और साममन्त्रों से स्तुति करते हैं । (महो देवः) यज्ञ ही महान् देव है । (मर्त्यान् आविवेश) यजन के लिए मनुष्यों में यह यज्ञ आविष्ट हुआ है ।

ऊपर दिए अर्थों पर दृष्टि डालिए, तो एक अर्थ शब्द परक है, दूसरा नाट्य शास्त्र संबन्धी है और तीसरा यज्ञ विषयक है । अब आपको मध्य कालीन महाविद्वानों के अर्थों की बानगी दिखाते हैं । जब यह समस्त भारत बौद्ध और जैन मत प्रवाह में पड़कर चारों ओर नास्तिकता में प्लावित हो रहा था, उस समय जिस महा पुरुष ने वैदिक धर्म की नौका को सम्हाला था, उस अनुपम प्रतिभा संपन्न सत्पुरुष कुमारिल-भट्टाचार्य्य से कौन संस्कृतज्ञ, कौन वैदिक धर्मी अपरिचित हो सकता है । उस महा पुरुष ने शबरस्वामिकृत मीमांसा दर्शन भाष्य पर वार्तिक रचे हैं । पहले अध्याय के प्रथम पाद पर की वार्तिक का नाम 'श्लोक वार्त्तिक' यह सारा ग्रन्थ श्लोकों में है । प्रथमाध्याय के दूसरे पाद से लेकर तीसरे अध्याय के अन्त तक के वार्तिक ग्रन्थ का नाम 'तन्त्र वार्तिक' है, और

शेषभाग-४थ से १२ श अध्याय तक के वार्त्तिक का नाम टुप्टीका है। वे स्वनाम-धन्य पण्डिताग्रगण्य श्री कुमारिल जी अपने तन्त्र वार्त्तिक ग्रन्थ में प्रसंग से इस मन्त्र की निम्नलिखित व्याख्या करते हैं—

'चत्वारि शृङ्गेति' रूपकद्वारेण याग-स्तुतिः कर्म काले उत्साहं करोति। हौत्रे-त्वयं विषुवति होतु राज्ये विनियुक्तः। तस्य चाग्नेयत्वादहश्चादित्यदैवतत्वसंस्त वादा-दित्यरूपेणाग्निस्तुतिरूपवर्ण्यते। तत्र चत्वारि शृङ्गेति दिवसयामानां ग्रहणम्। त्रयो अस्य पादा इति शीतोष्णवर्षाकालाः, द्वे शीर्षे इत्ययनाभिप्रायम्। सप्त हस्तास इत्यश्वस्तुतिः। त्रिधा बद्ध इति सवनाभिप्रायम्। वृषभ इति वृष्टिहेतुत्वेन स्तुतिः। रोरवीति स्तनयित्नुना सर्वलोक प्रसिद्धे-र्महान्देवो मर्त्यानाविवेशेत्युत्साह करणे-नोपकारेण सर्व पुरुष हृदया नुप्रवेशात्॥ (तन्त्र वार्त्तिक १।२।३८)

भावार्थ—'चत्वारि शृङ्गा' इस मन्त्र में रूपकालङ्कार द्वारा की गई यज्ञस्तुति अनुष्ठान समय में उत्साह बढ़ाती है। हौत्रकाण्ड में विषुवान् यज्ञ में होता के आज्यस्तोत्र में इसका विनियोग किया गया है। अग्नि देवताक है, और विसुवान् के आदित्य देवताक होने से आदित्य रूप से अग्नि स्तुति का वर्णन है—(चत्वारि शृङ्गा) दिन के चार पहर (त्रयो अस्य पा... शीत, उष्ण और वर्षा काल, (द्वे शीर्षे) दो अयन=दक्षिणायन और उत्तरायन (सप्तहस्तासः) सूर्य्य के सात अश्व=किरणें (त्रिधाबद्धः) तीन सवन=प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन (वृषभः) वृष्टिकारक (रोरवीति) बादल के द्वारा गर्जना करता है। (महो देवः) सकल संसार में प्रसिद्ध मान् देव (मर्त्यान् आविवेश) उत्साह करण रूप उपकार के द्वारा सब के हृदय में प्रवेश करता है।

है यह भी यज्ञ परक व्याख्या, किन्तु आदित्य को द्वार बना कर। अर्थात् निरुक्तकार के पथ का पथिक होकर उस व्याख्या को इन्होंने परिष्कृत सा किया है।

कुमारिल महाराज ने जिस मीमांसा-भाष्य की व्याख्या की है, उस भाष्य के प्रणेता ख्यातनामा श्रीशबर स्वामी जी ने भी इस मन्त्र की व्याख्या की है, वे मीमांसा दर्शन के १.२.३८ सूत्र के भाष्य में इस मन्त्र पर इस प्रकार लिखते हैं।

चत्वारि शृङ्गेति असदभिधाने गौणः शब्दः, गौणी कल्पना प्रमाणवत्वात्। उच्चारणादृष्टम प्रमाणम्। चतस्रो होत्राः शृङ्गाणीवास्य, त्रयो अस्य पाद इति सर्व-नाभिप्रायम्। द्वे शीर्षे इति पत्नी यजमानौ। सप्त हस्तास इति छन्दांस्यभिप्रेत्य। त्रिधा बद्ध इति त्रिभिर्वेदैर्बद्धः? वृषभः कामान् वर्षतीति रोरवीति शब्दकर्मा। महो देवो मर्त्यानाविवेशेति मनुष्याधिकाराभिप्रायम्॥

भावार्थः—चारसींग वाली वस्तु के मिलने से यह शब्द मुख्यवृत्ति से प्रयुक्त नहीं हुए, अपितु गौणी वृत्ति से, गौणी वृत्ति भी प्रमाण होती है। (चत्वारि शृङ्गा) चार होत्राएं (त्रयो अस्य पादा) तीन सवन (द्वे शीर्षे) पत्नी और यजमान (सप्त हस्तासः) गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, पंक्ति, बृहती, त्रिष्टुप् और जगती सात छन्द (त्रिधा बद्धः) यज्ञोपयोगी ऋग्यजुस्साम वेद (वृषभः) कामना का पूरा करने वाला (रोरवीति) शब्द करता है (महो देवो मर्त्यान् आविवेश) महान् देव मर्त्यों में प्रविष्ट हुआ, अर्थात् यज्ञानुष्ठान का अधिकार मनुष्यों को है।

यह व्याख्या भी यज्ञविषयिनी ही है। इस युग के मीमांसक यज्ञ से इधर उधर जा भी न सकते थे। स्त्री को वेद यज्ञादि का अधिकार न देने वाले महानुभाव 'द्वे शीर्षे' की व्याख्या में 'पत्नीयजमानौ' पद पर दृष्टि पात करें।

यह मन्त्र यजुर्वेद में भी है। यजुर्वेद के व्याख्याकार उव्वट इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं

"—यस्यास्य चत्वारि शृङ्गाणि ब्रह्मोद्गातृहोत्रध्वर्य्वाख्यानि, यस्य चास्य त्रयः पादाः ऋग्यजुस्सामलक्षणाः, यस्य चास्य द्वे शीर्षे हविर्धान प्रवर्ग्याख्ये, यस्य चास्य सप्त हस्तासः सप्त होतारो हस्ता इव व्याप्रियन्ते, यद्वा सप्तछन्दांसि हस्ता इव। यश्च त्रिधा त्रिप्रकारं संबद्धः प्रातस्सवनमाध्यन्दिन सवन तृतीय सवनैः, वृषभो वर्षिता, रोरवीति 'रु शब्दे',अत्यर्थं शब्दं करोति, सोयं महोदेवः महान् देवः हिरण्यगर्भस्तम्बपर्यन्तानां प्राणिनामुपजीव्यः, ज्ञानकर्म समुच्चय कारिणां शरीरभूतः, मर्त्यान् मनुष्यान् आविशति।

शब्द ग्रामो वा अभिधेयः चत्वारि शृङ्गाणि नामाख्यातोपसर्जननिपाताः, त्रयो अस्य पादाः प्रथम पुरुष मध्यम पुरुषोत्तम पुरुषाः, द्वे शीर्षे नामाख्याते, सप्त हस्तासः सप्त विभक्तयः, त्रिधाबद्धः एक वचन द्वि वचन बहुवचनैः। वृषभ इवामर्षा दन्यानि शास्त्राण्यधः पदी कृत्य रोरवीति, य उक्तगुणः सोयं महान् देवो मर्त्यानाविशति प्रतिपादयति ॥ यजुः १७।९२।

भावार्थः—(चत्वारिशृङ्ग) ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु (त्रयो अस्य पादाः ऋग्यजुस्साम (द्वे शीर्षे) हविर्धान और प्रवर्ग्य (सप्त हस्तासः) सात ऋत्विज अथवा सात छन्द (त्रिधा बद्धा) प्रातस्सवन, मध्यिन्दिन सवन और तृतीय सवन (वृषभः) वर्षिता (रोरवीति) बहुत शब्द करता है (महो देवः, हिरण्यगर्भ से तिनके पर्यन्त का जीवनाधार, ज्ञान कर्म समुच्चय कारियों का शरीर [मेरे विचार में यहाँ 'शरीरि-

भूतः' पाठ हो तो ठीक है, उससे 'आत्मा' अर्थ हो सकेगा, जो यहाँ संगत प्रतीत होता है] (मर्त्यान् आविवेश) मनुष्यों में प्रविष्ट होता है।

अथवा इस मन्त्र का अर्थ शब्द समूह है—

(चत्वारि शृङ्गा) नाम, आख्यात उपसर्ग और निपात (त्रयो अस्य पादाः) प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष (द्वे शीर्षे) नाम और आख्यात (सप्त हस्तासः) सात विभक्तियाँ (त्रिधा बद्धः) एक वचन, द्वि वचन, और बहु वचन (वृषभः रोरवीति) बैल की भांति असहिष्णु होने से दूसरे शास्त्रों को पैर तले करके गरजता है। यह उक्त गुण (महोदेवः) महान् देव (मर्त्यान् आविवेश) मनुष्यों का प्रतिपादन करता है इन्होंने दो व्याख्याएं की हैं, पहली यज्ञ परक, दूसरी शब्द परक। शब्द परक व्याख्या में नाम और आख्यात को चार शृङ्गों में गिन कर फिर इन्हें दो सिर भी इन्होंने बना दिया है। पता नहीं, यह कैसे संगत है ? सिर और सींग एक कैसे हैं। ब्रह्मादि को सींग भी कहा है और फिर उन्हें सात हाथों में गिन डाला है श्रीमन्महीधर ने इन्हीं का अनुकरण किया है तो उनके किये अर्थ भी यहां दे देते हैं—

'यज्ञ पुरुषदेवत्य ऋषभो मन्त्रः। यो वृषभः कामानां वर्षिता'' रोरवीति 'रु शब्दे' यङ्लुगन्तम्, अत्यर्थं शब्दं करोति... महोदेवः महति पूजयति मह्यते वा जनैरिति महो-महान् देवः ब्रह्मादि स्तम्ब-पर्य्यन्तानां प्राणिनामुपजीव्यो ज्ञानकर्म्मा-समुच्चयकारिणां विदुषां शरीरभूतो मर्त्याना-विवेश आविशति मनुष्यान् व्याप्य तिष्ठति। यस्य वृषभस्य यज्ञस्य चत्वारि शृङ्गा शृङ्गाणि ब्रह्मोद्गातृहोत्रध्वर्यु लक्षणानि। त्रयः पादाः ऋग्यजुस्सामरूपाः। द्वे शीर्षे शिरसी हविर्धानप्रवर्ग्याख्ये। 'शिर एवास्य हविधानं ग्रीवा वै यज्ञस्योपसदः शिरः प्रवर्ग्यः' इतिश्रुतेः। अस्य वृषभस्य सप्त हस्तासः सप्त होतारो हस्ता, हस्ता इव व्याप्रियन्ते, सप्त छन्दांसि वा हस्ताः। यश्च त्रिधा त्रिप्रकारैर्बद्धः प्रातः सवनमाध्यन्दिन सवनतृतीय सवनैर्बद्धः। यद्वा चत्वारो वेदाः शृङ्गाणि, त्रयः पादाः सवनानि, द्वे शीर्षे प्रायणी योदयनीये सप्त हस्तासः छन्दांसि, त्रिधा बद्धः मन्त्र-ब्राह्मणकल्पैर्बद्धः।

शब्दग्रामो वा व्याख्येयः—चत्वारि शृङ्गाणि नामाख्यातोपसर्ग निपाताः, त्रयः पादाः प्रथमपुरुषमध्यमपुरुषोत्तमपुरुषाः त्रयः काला वा; द्वे शीर्षे कार्य्यताव्यक्ते, सप्त हस्ताः विभक्तिरूपा., त्रिधाबद्धः एकवचनद्विवचनबहुवचनैर्बद्धः वृषभ इवायमन्यशास्त्राणि अधः कृत्व रोरवति, सोऽयं महान् देवो मर्त्यानाविवेश आविशति प्रतिपादयति। मनुष्येष्विति मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येतिन्यायात् ।य१७।९१।

"अर्थ देने की कोई आवश्यकता नहीं। एकाध शब्द की व्युत्पत्ति तथा एक प्रमाण के अतिरिक्त यह प्रायः उव्वट जी की शब्दशः नकल ही है। हां यज्ञ परक व्याख्या में उव्वट का मत देकर फिर निरुक्तानुसार व्याख्या कर दी है। शब्द परक व्याख्या में 'द्वे शीर्षे' का अर्थ महाभाष्यकार के अनुसार दिया है। अन्यत्र उव्वट के समान है। इन्होंने स्वयं अपनी व्याख्या के आरम्भ में इस बात को स्वीकार किया है—

प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं गणेशं
भाष्यं विलोक्यौव्वटमाधवीयम् ।
यजुर्मनूनां विलिखामि चार्थं
परोपकाराय निजेक्षणाय ॥ १ ॥

श्री महीधर जी ने यजुर्वेद सर्वानुक्रमसूत्र के अनुसार इस मन्त्र का नाम 'ऋषभ मन्त्र' कहा है।

श्री पण्डित ज्वालाप्रसाद जी महीधर पण्डित के अनुगामी है, उन्होंने उव्वट महीधर के अर्थों को भाषा का रूप दे दिया है। हां 'वेद' परक अर्थ करते हुए उनसे कुछ भेद किया है। वे लिखते हैं— 'इस वेद रूप यज्ञ पुरुष के धर्म्म अर्थ काम मोक्ष-रूप ही चार शृङ्ग हैं। कर्म उपासना और ज्ञान तीन चरण हैं। व्यष्टिसमष्टिरूप दो शिर, स्वर वा छन्द सात हाथ हैं। इस प्रकार कर्म उपासना ज्ञान वा तीन गुण से युक्त चार पदार्थ की वर्षा करने वाला वेद अत्यन्त शब्द कर रहा है। हे मनुष्यो! जागो, परमात्मा का भजन करने को यह शरीर है। इस परमात्मा ने जीव रूप से इस शरीर में प्रवेश किया है। य० १७। ९१।

ऋग्वेद भाष्य (४.५८-३) में श्री सायणाचार्य जी ने इस प्रकार लिखा है।

"यद्यपि सूक्तस्यास्याग्निसूर्य्यादिपंचदेवताकत्वात् पंचधायं मन्त्रो व्याख्येयस्तथापि निरुक्ताद्युक्तरीत्या यज्ञात्मकाग्नेः सूर्य्यस्य च प्रकाशकत्वेन तत्परतया व्याख्यायते। अस्य यज्ञात्मकस्याग्नेश्चत्वारि शृंगा चत्वारो वेदाः शृंगस्थानीयाः। यद्यप्यापस्तम्बेन 'यज्ञं व्याख्यास्यामः, स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते।' (परिभाषा १।३) इत्युक्तं, तथाथर्वणस्येतरानियत्तयैवैकाग्निसाध्यानां कत्स्न्रकर्मणामभिधायकत्वात्तदपेक्षया चत्वारि शृंगेत्युक्तं, त्रयो अस्य पादाः सवनानि त्रीण्यस्य पादाः, प्रवृत्ति साधनत्वात्पादा इत्युच्यन्ते। द्वे शीर्षे ब्रह्मौदनं प्रवर्ग्यश्च, इष्टि सोमप्रधान्येनेदमुक्तम्। सप्त हस्तासः सप्तच्छन्दांसि, हस्ताम अनुष्ठानस्य मुख्यसाधनं, छन्दांस्यपि देवताप्रीणतस्य मुख्यसाधनमिति हस्तव्यवहारः त्रिधाबद्धो मन्त्रकल्पब्राह्मणैस्त्रिप्रकारं बद्धः, बन्धनस्य तन्निष्पाद्यत्वम्। वृषभः फलानां वर्षिता। रोरवीति भृशं शब्दायते, ऋग्यजुस्सामोक्थैः शस्त्रयागस्तुतिरूपैर्होत्राद्युपादितैर्ध्वनिभिरसौ रौति। एवं महो देवो मर्त्यानाविवेश, मर्त्यैर्यजमानैर्निष्पाद्यत्वात्प्रवेश उपचर्यते।

अत्र यास्कश्चत्वारि शृंगेति वेदा वा एत-उक्ताः निरु १३ । ७इत्यादिना निरवोचत्, तदत्रानुसन्धेयम् ।

अथ सूर्यपक्षे-अस्यादित्यस्य चत्वारि शृंगाणि चतस्रो दिशः, एताः श्रयणार्थ-त्वाच्छृङ्गाणीत्युपचर्य्यन्ते । त्रयो अस्य पादाः त्रयो वेदाः पादस्थानीयाः भवन्ति गमनसाधनत्वात्, तथाहि 'ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयत' इत्युपक्रम्य 'वेदैर-शून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः तै० ब्रा० ३-१२-११'

इति हि वेदत्रयेण गतिराम्नाता । द्वे शीर्षे अहश्चरात्रिश्च शिरसी । सप्त हस्तासो अस्य सप्त रश्मयः, षड्वि-लक्षणाऋतवः एकः साधारणः इति वा सप्त हस्ता भवन्ति । त्रिधा बद्धस्त्रिषु स्थानेषु क्षित्यदिष्वग्न्या द्यात्मकत्वेन सं बद्धः, ग्रीष्मवर्षाहेमन्ताख्यैस्त्रिभिस्त्रेधा बद्धो वा । वृषभो वर्षिता, रोरवीति शब्दं करोति वृष्ट्यादि द्वारा । स महो महान देवो मर्त्यानाविवेश तन्नियन्तृतया, 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुश्च' ऋ० १ । ११५ । १ इति हि श्रुतं । एवं त्वबादिपक्षेपि योज्यं । शाब्दिकास्तु शब्दब्रह्मपरतया चत्वारि शृंगेति चत्वारि शृंगेति चत्वारि पद-जातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चे-त्यादिना व्याचक्षते । अपरे त्वपरथा, तत्सर्वमन्त्र द्रष्टव्यम् ।

भावार्थ—सायण कहते हैं—यद्यपि इस सूक्त के अग्नि, सूर्य्य आदि पांच देवता हैं, और अतएव इस मन्त्र की पांच प्रकार की व्याख्या होनी चाहिए। तथापि निरुक्त आदि की शैली यज्ञात्मक अग्नि और सूर्य्य के प्रकाशक होने से तत्परक व्याख्या करते हैं। इस यज्ञात्मक अग्नि के (चत्वारि शृंगा) चार वेद शृंग स्थानीय हैं। (त्रयो अस्य पादा) तीन सवन इत्यादि।

इस अर्थ में सायण ने निरुक्त का अनुसरण करते हुए कहीं कहीं अपनी ऊहा की है।

सूर्य्यपक्ष में - इस आदित्य के (चत्वारि शृंगा) चार दिशाएं स्थानीय हैं (त्रयो अस्य पादाः) तीन वेद (द्वे शीर्षे) दिन और रात (सप्त हस्तासः) सात किरणें अथवा सात ऋतुएं। (त्रिधा बद्धः) प्रथिव्यादि में अग्नि आदि के रूप से संबद्ध अथवा गरमी वर्षा और शीत काल से संबद्ध। (वृषभः) वर्षा करने वाला (रोरवीति) वृष्टयादि के द्वारा शब्द करता है। यह (महान् देवः मर्त्याना-विवेश) नियामक होकर मर्त्यों में प्रकाश करता है। इसी प्रकार जलादि के पक्ष में लगाना चाहिए। वैयाकरण शब्द परक व्याख्या करते हैं। दूसरे किसी अन्य प्रकार से, वह सब यहां समझ लेना।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने यजुर्वेद में निरुक्तकार तथा व्याकरण भाष्यकार के अर्थों का प्रमाण देकर उनके

अनुसार अर्थ किया है। ऋग्वेद में उन्होंने विलक्षण अर्थ किया है, उसे हम यहां उद्धृत कर देते हैं।

'अथेश्वरविज्ञानमाह'

(चत्वारि) चत्वारो वेदाः (शृंगा) शृंगाणीव (त्रयः) कर्मोपासनाज्ञानानि (अस्य) धर्म्म व्यवहारस्य (पादाः) पत्तव्याः (द्वे) अभ्युदयनिःश्रेयसे (शीर्षे) शिरसी इव (सप्त) पंच ज्ञानेन्द्रियाणि वा कर्मेन्द्रियाणि अन्तःकरणमात्मा च (हस्तासः) हस्तवद्वर्त्तमानाः (अस्य) धर्म्मयुक्तस्य नित्यनैमित्तिकस्य (त्रिधा) श्रद्धा पुरुषार्थ योगाभ्यासैः (बद्धः) (वृषभः) सुखानां वर्षणात्। (रोरवीति) भृशमुपदिशति (महः) महनीयः पूजनीयः (देवः) स्वप्रकाशः सर्वसुखप्रदाता (मर्त्यान्) मरण धर्म्मान्मनुष्यादीन् (आ) समन्तात् (विवेश) व्याप्नोति।

अन्वयः—हे मनुष्याः। यो महो देवो मर्त्यानाविवेश यो वृषभस्त्रिधा बद्धो रोरवीति अस्य परमात्मनो बोधस्य द्वे शीर्षे त्रयः पादाः चत्वारि शृंगा युष्माभिर्वेदितव्यान्यस्य च सप्त हस्तासः, त्रिधा बद्धो व्यवहारो वेदितव्यः।

भावार्थ—हे मनुष्या! अस्मिन् परमेश्वरव्याप्ते जगति यज्ञस्य चत्वारो वेदाः, नामाख्यातोपसर्गनिपाताः; विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयाः धर्म्मार्थकाममोक्षाश्चेत्यादीनि शृंगाणि; त्रीणि सवनानि त्रयः कालाः कर्मोपासनाज्ञानानि मनोवाकछरीराणि चेत्यादीनि पादाः; द्वौ व्यवहारपरमार्थौ नित्यकार्य्यौ शब्दात्मानौ उदगयनप्रायणौ अध्यापकोपदेशकौ चेत्यादीनि शिरांसि, गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि सप्त विभक्तयः सप्त प्राणाः पंचकर्मेन्द्रियाणि शरीरमात्मा चेत्यादयो हस्ताः, त्रिषु मंत्रब्राह्मणकल्पेषु उरसि कण्ठे शिरसि श्रवण मनननिदिध्यासनेषु ब्रह्मचर्यसुकर्म्मसुविचारेषु सिद्धोऽयं व्यवहारो सत्कर्त्तव्यो मनुष्येषु प्रविष्टोऽस्तीति विजानन्तु।

भाषा में भावार्थ—

चत्वारि शृंगा—चार वेद; नाम आख्यात उपसर्ग निपात, विश्वतैजस प्राज्ञतुरीय, धर्म्म अर्थ काम मोक्ष इत्यादि—

त्रयः पादाः—तीन सवन, तीन काल, कर्म उपासना ज्ञान, मन वाणी शरीर, इत्यादि—

द्वे शीर्षे—व्यवहार परमार्थ, नित्य कार्य्य शब्द, उदगयनप्रायणीय, अध्यापक उपदेशक इत्यादि—

सप्त हस्तासः—गायत्री, उष्णिक् अनुष्टुप, पंक्ति वृहती त्रिष्टुप् जगती छन्द, सात विभक्तियां, सात प्राण, पांचकर्मेन्द्रिय वा ज्ञानेन्द्रिय, शरीर आत्मा इत्यादि—

त्रिधा बद्धः—मन्त्रब्राह्मणकल्प, छाती कण्ठ सिर, श्रवण मनननिदिध्यासन, ब्रह्मचर्य्य सुकर्म्मसुविचार इत्यादि।

इस पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है; कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने यज्ञ और शब्द के अतिरिक्त ईश्वर बोध तथा लोक व्यवहार-परक अर्थ भी स्वीकार किए हैं। इतने अर्थों का व्याकारण है। इसका उत्तर भी ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से मिलता है। यजुर्वेद भाष्य इस मन्त्र की यास्काचार्य तथा मुनिवर पतंजलि के अनुसार व्याख्या करके भावार्थ में 'अत्रोभयोरुपमा रूपकः श्लेषालंकारश्च' कहा है। अर्थात् अर्थों को विविधता में रूपक और श्लेषालंकार हेतु हैं।

वेदानन्दतीर्थ के मत से ऋग्वेदीय मन्त्र के पांच अर्थ संभव हैं। उन स... का दिग्दर्शन फिर कभी कराया जायगा। यजुर्वेद का यज्ञ परक तथा आनुषंगिक-तथा शब्द विषयक होना चाहिये। अर्थ की दृष्टि से निरुक्तकार याजुषमन्त्र की व्याख्या करते हुये प्रतीत होते हैं। वास्तव रहस्य तो सुधीजन जानें।

इस सारे लेख का तात्पर्य्य इतना है, कि वेद काव्य है। काव्य में अलंकार भी हुआ करते हैं। अतः उनके कारण जैसे लौकिक काव्यों में अर्थ भेद होता है, वैसे ही यहां वेद में भी होता ही है। हां, प्रकरणादि का विचार अवश्य करना चाहिए।

अनुसार

शङ्का समाधान

[प्रेषक—कुँवर बहादुर विद्यार्थी, प्रतापगढ़]

[१]

शङ्का

उपनयन संस्कार में यज्ञोपवीत धारण करने का ध्येय निम्नोक्त कहा जाता है।

यज्ञोपवीत (अ) धारण-कर्त्ता को गुरु-ऋण, पितृ-ऋण तथा ऋषि-ऋण का स्मरण कराता है। (ब) धारणकर्त्ता की तीन पवित्र प्रतिज्ञाओं का परिचायक है। (स) अधिकृत वर्णवालों को अन्य वर्ण वालों से अलग करता है।

(अ) यज्ञोपवीत को तीन ऋणों को स्मरण कराने के लिये धारण करना अपनी आत्मा की असमर्थता और उसमें अविश्वास प्रगट करना है—अर्थात् इससे यह प्रगट होता है कि मेरी आत्मा अपने पुनीत ऋणों को स्मरण रखने में असमर्थ है इसलिये उसको इन ऋणों का स्मरण कराने के निमित्त यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक है। अतः आत्मा में इस प्रकार अविश्वास प्रगट करना घोर पाप है अतः इस मात्र निमित्त के लिये यज्ञोपवीत न धारण करना चाहिये। (ब) यह उपरोक्त का पुनर्कथन मात्र है। (स) वर्ण विभाग कर्त्तव्य से होता है अतएव किसी प्रकार का अन्य दिखावटी चिह्न नियुक्त करने की आवश्यकता नहीं है।

यदि यज्ञोपवीत धारण करने का उपरोक्त के अनन्तर भी कोई विशेष तात्पर्य होता हो तो उन्हें भी प्रगट करने की कृपा कीजियेगा।

समाधान

इसमें सन्देह ही क्या है कि आत्मा ऋणों के स्मरण करने में असमर्थ है। यदि सभी लोग अपने ऋणों को याद रख सकते तो संसार में पाप ही क्यों होते। सभी वाह्य चिह्न तो बनावटी या व्यर्थ नहीं होते। इस विषय में हमारा यज्ञोप-सम्बन्धी लेख पढ़िये जो जनवरी ३२ के 'वेदोदय' में निकला है।

[२]

[प्रेषक श्री नित्यानन्द जी, सरायतरीन (मुरादाबाद)]

पूज्य श्री नारायण स्वामी कृत "मृत्यु और परलोक" प्रथम संस्करण ४,५ परिच्छेद के पढ़ने से विदित होता है—

"(१) गर्भ का दुख भोग, सकाम कर्म जन्य वासना का परिणाम है।

(पृ० १०१)

(२) अमैथुनी सृष्टि में पैदा होने के लिये वासना की कुछ भी आवश्यकता नहीं होती। पृ० १०८।"

अब प्रश्न यह है कि अमैथुनी सृष्टि में तो मध्य सृष्टि में भी सारे स्वेदज और उद्भिज जन्म लेते हैं और आदि सृष्टि में तो स्वेदज और उद्भिज के अतिरिक्त सब जरायुज और अण्डज भी इसी प्रकार जन्मते हैं कि उनको माता के गर्भ का कष्ट नहीं सहन करना पड़ता, तो क्या इन सब के विषय में यही समझना चाहिये कि पूर्व जन्म में इनकी वासनायें नष्ट हो चुकी थीं। और मोक्ष प्राप्ति के अतिरिक्त और कोई अवस्था वासनायें नष्ट होने की नहीं हो सकती। और यह भी समझना सिद्धान्त के विरुद्ध है कि सब के सब आदि सृष्टि में जन्मे-प्राणी, और सारे के सारे सृष्टि के मध्य कालीन जन्मे स्वेदज और उद्भिज, मुक्ति की अवस्था से लौट कर आये हैं। मुक्ति की अवस्था से लौटे जीव तो ऋषि, देव तथा वेदज्ञ ही हो सकते हैं।

समाधान

यहां केवल उन्हीं ऋषियों से तात्पर्य है जो मुक्ति के पश्चात् लौट कर सृष्टि के आरम्भ में शरीर धारण करते हैं। यहाँ यह कहा गया है कि अमैथुनी सृष्टि में पैदा होने के लिये वासना की "आवश्यकता" नहीं है। अर्थात् बिना वासना के भी अमैथुनी सृष्टि हो सकती है और वासना के साथ भी। पहली दशा ऋषि मुनियों की है। दूसरी अन्य जीवों की। 'आवश्यक' शब्द के अर्थ पर ठीक विचार करने से आक्षेप दूर हो जाता है।

[३]

शङ्का

१—किसी रोग के निवारणार्थ मांस का सेवन करना चाहिये अथवा नहीं।

२—यदि नहीं, तो फिर चरक आदि महर्षियों ने स्व प्रणीत संहिताओं में मांस या माँस रस के सेवन करने की आज्ञा क्यों दी है? क्या वे महर्षि नहीं थे।

यदि थे तो उनकी आज्ञा माननीय क्यों नहीं? यदि कहिये कि उनकी आज्ञा वेद विरुद्ध होने के कारण माननीय नहीं है, तो क्या वेद के विरुद्ध आज्ञा देने वाले भी यथार्थ में ऋषि अथवा महर्षि कहलाने के योग्य हैं? पर श्री स्वामी जी महाराज उनको ऋषि मानते हैं जैसा कि सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास में स्वयं लिखते हैं, "इस प्रकार सब वेदों को पढ़ के आयुर्वेद अर्थात् जो चरक सुश्रुत आदि ऋषि मुनि प्रणीत वैद्यक शास्त्र है।" तो फिर स्वामी जी ने मांस खाने का सर्वथा निषेध क्यों किया?

अनुसार

समाधान

(१) मांस बिना हिंसा के प्राप्त नहीं होता। हिंसा पाप है। इसलिये मांस किसी भी अवस्था में खाना ठीक नहीं। यदि रोग निवारणार्थ मांस भक्षण को प्रथा चल पड़ी तो लोग इस बहाने से ही पशु-बध किया करेंगे। यदि कोई चाहता है कि एक पाप से बचने के लिये दूसरा पाप करे तो वह कर सकता है परन्तु ऐसा करने से वह कर्म पुण्य नहीं कहलाया जा सकता।

(२) चरक आदि के ग्रन्थों में संभव है कि भिन्न भिन्न पदार्थों के गुणों का ही वर्णन हो। वैद्यक ग्रन्थ और धर्म शास्त्र में भेद हो सकता है। यह कहना कठिन है कि ऋषि महर्षि भूल नहीं कर सकते। या उनके कथन को वेदों के समान स्वतः प्रमाण मान लेना चाहिये। यदि ऐसा होगा तो परतः प्रमाण और स्वतः प्रमाण का भेद ही मिट जायगा। परतः प्रमाण को स्वतः प्रमाण के आश्रित इसी लिये बताया है कि उसमें भूल की संभावना है।

आर्य समाज के निर्माता

स्वर्गीय स्वामी निर्भयानन्द जी

[श्री विश्वप्रकाश बी० ए०, एल-एल० बी०]

जिसने एक बार भी स्वामी निर्भयानन्द के दर्शन किये वह बिना प्रभावित हुये न रहा। उनके व्यक्तित्व में तेज था जिसकी छाप प्रत्येक मनुष्य पर लग जाती थी। लखनऊ नगर का साधारण से साधारण पुरुष उनसे परिचित है। उनका नाम जिस गुण का द्योतक है वह उनमें अच्छी तरह समावेश कर गया था। चाहे बड़ी से बड़ी आपत्ति क्यों न आ जावें वे घबराते न थे। उनके मुख पर दुःख की रेखा तक न थी। वह बड़ी निर्भयता से उसका सामना करते थे। ईश्वर पर उनका अटल विश्वास था और वही उनको निर्भय बनाने में सहायक था। श्रीमद्दयानन्द अनाथालय लखनऊ उनकी कार्य कुशलता का परिचय दिलाता है।

आरम्भिक जीवन

सन्यास लेने से पूर्व आपका नाम बाबू बनारसीलाल था। आपके पिता मुंशी शङ्करलाल जी महाराज बनारस के यहाँ नौकर थे। पर किन्हीं कारणों से आपका मन नौकरी में न लगा। तो अपनी ससुराल लखनऊ में आकर रहने लगे। यहीं पर वे एक प्रकार से बस से गये। ४ नवम्बर १८६५ को बनारस में उत्पन्न होने से कारण माता पिता ने इनका नाम बनारसीलाल जी रक्खा।

आपसे बड़े तीन और भाई थे। लखनऊ में आकर आप अपनी ननसाल में रहने लगे। ननसाल में आप अवश्य ही बड़े लाड़ प्यार से रक्खे गये होंगे। उनके आगामी जीवन से इसका बहुत कुछ पता चल जायगा।

नटखट जीवन

बचपन में बनारसीलाल जी बड़े नटखट थे। वास्तव में यह देखा जाता है कि जो लड़के बचपन में बड़े सीधे होते हैं वे बड़ी अवस्था में कभी भी निर्भय नहीं हो सकते। हर काम के करने के पहले

अनुसार उसका आगा पीछा बहुत सोचा करते हैं । बनारसीलाल बचपन में बड़े खिलाड़ी थे । पाठशाला भेजे गये, वहां थोड़ा बहुत पढ़ गये पर उच्च शिक्षा उनके भाग्य में न थी । उनकी मित्र मंडली बड़ी विचित्र थी । उनके साथ तो केवल खेल कूद में ही समय बीतता था । खेल भी बड़े ही विचित्र थे । उनमें से एक यहां दिया जाता है । एक दिन मित्रों को एक नया खेल सूझा । एक लड़के को चारपाई पर लिटा दिया और उसके कफ़न के लिये चन्दा होने लगा । एक रईस के पास गये और कहा कि यह लावारिस लाश है इसके कफन को कुछ मिल जाय । इस तरह चन्दा इकट्ठा हुआ। और बाद में सब ने मिल कर दावत उड़ाई ।

इस समय की एक और घटना अत्यन्त मनोरञ्जक है । बा० बनारसीलाल जी घर के धनी न थे । प्रश्न यह हुआ कि किस प्रकार निर्वाह हो । बा० बनारसीलाल को एक तरकीब सूझ गई । हिन्दू समाज में अन्ध विश्वास बहुत है और न जाने कितनों की रोजी इसी से चलती है । बनारसीलाल जी ने एक जुगनू पकड़ कर डिबिया में बन्द कर दिया और एक चबूतरे में गाड़ दिया । उस पर एक कब्र बना दीगई और इसका नाम जुगनूशाह का मज़ार प्रसिद्ध कर दिया । बा० बनारसीलालजी इसके मुजाविर बन बैठे । एक भोली भाली स्त्री का बच्चा बीमार पड़ा । वह जुगनूशाह की मजार का नाम सुन चुकी थी । दौड़ी आई और मानता मानी । संयोग से उसका बच्चा हो गया । अब क्या था ? जगनू शाह ने अपना महत्व सिद्ध कर दिया । जिस किसी ने यह बात सुनी वह भी दौड़ा आया । आप के नाते के भाई भी मरसिया पढ़ा करते थे ।

बा० बनारसीलाल को इन सब में विश्वास तो था ही नहीं, इसको तो उन्होंने निर्वाह का एक मात्र साधन ही बना रखा था । एक खेल इससे भी अधिक मनोरञ्जक है । मशकगंज में बाबू जी रहा करते थे । यहां पर एक मित्र के यहां एक आदमी आया करता था । वह भूत-प्रेतों को उतारा करता था । बाबू साहब उसके पास पहुंचे और कहा "मेरे मुहल्ले में एक नीम का पेड़ है उस पर रात को रोज भूत आता है । कृपा करके उसको भगा दीजिये ।" भूत प्रेत उतारने वाले ने आने का बचन दे दिया । बा० बनारसी लाल ने अपने में से एक मोटे ताजे आदमी को चुना और उसका मुंह काला रङ्ग दिया रात होने के पहले उसको पेड़ पर बैठा दिया । भूत उतारने वाले महाशय आये और देख कर बेहोश हो गये । उस दिन से वे मुहल्ले में न आये ।

(क्रमशः)

शतपथ ब्राह्मण [सभाष्य]

काण्ड १—अध्याय २ ब्राह्मण ५

(१)

अनुवाद

२१—अथैतां वाचं वदति। प्रोक्षणीरासादयेध्मं बर्हिरुपसादय स्रुचः सम्मृड्ढि पत्नीᳬ सन्नह्याज्येनोदेहीति सम्प्रैष एवैष स यदि कामयेत ब्रूयादेतद्यद्यु कामयेताऽपि नाद्रियेत स्वयमु ह्येवैतद्वेदेदमतः कर्म कर्त्तव्यमिति।

२१—अब इस वाणी को कहता है :—"प्रोक्षणी को रख दो, समिधा और बर्हि को इसके पास रक्खो। चमसे को पोंछ डालो, पत्नी को तैय्यार करो, घी को लाओ।" यह आदेश है चाहे इसको बोले चाहे न बोले। क्योंकि वह स्वयं जानता है कि यह कर्म करना है।

२२—अथोदञ्चᳬ स्फ्यं प्रहरति। अमुष्मै त्वा वज्रं प्रहरामीति यद्यभिचरेद्वज्रो वै स्फ्य स्तृणुते हैवैनेन।

२२—अब वह स्फ्या को उत्तर की ओर फेंकता है। यदि इच्छा हो तो यह कह कर* मैं वज्र को अमुक तुझ पर फेंकता हूँ"। स्फ्या रूपी वज्र ही उसको मारता है।

२३—अथ पाणीऽअवनेनिक्ते। यद्वयस्यै क्रूरमभूत्तद्वयस्याऽएतद्हार्षीत्तस्मात्पाणीऽअवनेनिक्ते।

२३—अब दोनों हाथ [धो]ता है। इसमें जो क्रूर हो वह दूर हो जा[य]। इस लिये वह हाथ धोता है।

२४—स ये हाग्रऽईजिरे। ते ह स्मावमर्श यजन्ते ते पापीयाᳬस आसुरथ ये नेजिरे ते श्रेयाᳬस आसुस्ततोऽश्रद्धा मनुष्यान्विवेद ये यजन्ते पापीयाᳬस स्ते भवन्ति यऽउ न यजन्ते श्रेयाᳬसस्ते भवन्तीति तत इतो देवान्हविर्न जगामेतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति।

२४—जो पहले युगों में यज्ञ करते थे। वे पापी हो गये। जो यज्ञ नहीं करते थे वे पुण्यात्मा रहे। इस पर मनुष्यों में अश्रद्धा हो गई कि जो यज्ञ करते हैं वह पापी हो जाते हैं और जो यज्ञ नहीं करते वह पुण्यात्मा रहते हैं। अब इससे देवों को हवि न पहुंची क्योंकि इस

---

* १ कात्यायन सूत्र में इस स्थान पर यजु० १।२८ के अन्तिम भागको पढ़ने का विधान है अर्थात् "द्विषतो वधोसि"। (तू शत्रु का मारने वाला है)।

संसार के दान से ही देवों की जीविका चलती है।

२४—तेह देवाः ऊचुः। बृहस्पतिमाङ्गिरसमश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्तेभ्यो विधेहि यज्ञमिति स हेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः कथा न यजध्वऽइति ते होचुः किङ्कामा यजेमहि ये यजन्ते पापीयाꣳसस्तेभवन्ति यऽउ न यजन्ते श्रेयाꣳसस्ते भवन्तीति।

२५—तब देवों ने बृहस्पति आङ्गिरस से कहा, "मनुष्यों में अश्रद्धा हो गई है। उनके लिये यज्ञ का विधान करो। इस पर बृहस्पति आङ्गिरस गया और कहने लगा, "तुम यज्ञ क्यों नहीं करते ?" उन्होंने उत्तर दिया "हम यज्ञ क्यों करें। जो यज्ञ करते हैं वह पापी होते हैं और जो यज्ञ नहीं करते वह पुण्यात्मा होते हैं।

२६—स होवाच। बृहस्पतिराङ्गिरसो यद्वै शुश्रुम देवानां परिषूतं तदेव यज्ञो भवति यज्ञृतानि हवीꣳषि क्रमा वेदिस्तेनानवमर्शमचारिष्ट तस्मात्पापीयाꣳसोऽभूत तेनानवमर्शं यजध्वं तथा श्रेयाꣳसो भविष्यथेत्या कियत इत्या बर्हिषस्तरणादिति बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति स यदि पुरा बर्हिषस्तरणात् किञ्चिदापद्येत बर्हिरेव तत्स्तृणन्नपास्यदथ यदा बर्हिस्तृणन्त्यापि पदाभितिष्ठन्ति स यो हैवं विद्वाननमर्शं यजते श्रेयान्हैव भवति तस्मादनवमर्शमेव यजेत।

२६—बृहस्पति आङ्गिरस ने तब कहा, " हमने सुना है कि जो देवों के लिये पकाया जाता है वह यज्ञ होता है अर्थात् हवि और तैय्यार की हुई वेदि। तुमने उनको छू कर यज्ञ किया इसलिये पापी हो गये। अब बिना छुये यज्ञ करो तब पुण्यात्मा हो जाओगे"। उन्होंने पूछा, "कब तक ?" उत्तर दिया, "कुशों (बर्ही) को फैलाने तक।" कुशों से ही यज्ञ शान्त होता है। इसलिये अगर कुशों के फैलाने से पहले कुछ गिर पड़े तो कुशों से ही उसको दूर कर दे। क्योंकि जब वे कुशों को इस पर फैला चुकते हैं तो उस पर पैरों से खड़े होते हैं। जो विद्वान् ऐसा जान कर बिना छुये यज्ञ करता है वह पुण्यात्मा होता है। इसलिये बिना छुये ही यज्ञ करे।

---

(२)

यज्ञ सम्बन्धी सारांश

(१) वेदि पश्चिम को चौड़ी हो। बीच में तंग, फिर पूर्व की ओर चौड़ी। पूर्व और उत्तर की ओर ढालू हो। वेदी को गोबर से लीपना। प्रोक्षणी पात्र में जल रखना। चमसे को पोंछना।

---

(३)

उपदेश तथा भाषा सम्बन्धी टिप्पणियां

(१) यन्न्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दं स्तस्माद्वेदिर्नाम। (१।२।५।१०)

चूंकि (औषधियों की जड़खोद कर) उन्होंने यहां विष्णु को पाया इसलिये इसका नाम वेदि हुआ। (विद् का अर्थ है प्राप्त करना)

(२) संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः (१।२।५।१२)

संवत्सर (वर्ष) यज्ञ प्रजापति है।

(३) प्राची हि देवानां दिक्······ उदीची हि मनुष्याणां दिक्······ (दक्षिण) वैदिक पितृणाम्···(१।२।५।१७)

पूर्व दिशा है देवों की, उत्तर मनुष्यों की, दक्षिण पितरों की।

(४) सङ्ग्रामो वै क्रूरं सङ्ग्रामेति क्रूरं क्रियते। (१।२।५।९)

'क्रूर' का अर्थ है युद्ध। क्योंकि युद्ध में क्रूरता की जाती है।

काण्ड १—अध्याय ३ ब्राह्मण १

[१]

१—सवै स्रुचः सम्मार्ष्टि। तद्यत्स्रुचः सम्मार्ष्टि यथा वै देवानां चरणं तद्वाऽअनु मनुष्याणं तस्माद्यदा मनुष्याणां परिवेषण-मुपक्लृप्तं भवति।

(१) अब वह स्रुवों को मांजता है। स्रुवों को मांजने का कारण यह है कि देवों का जो चलन होता है वह मनुष्यों के चलन के अनुकूल होता है। इसलिये जैसे जब मनुष्यों में परोसने का समय होता है।

२—अथ पात्राणि निर्णेनिजति। वेतैर्निर्णिज्य परिवेविषत्येव वाऽएष देवानां यज्ञो भवति यच्छृतानि हवींषि लक्लृप्ता वेदिस्तेषामेतान्येव पात्राणि यत्स्रुचः।

(२) तो बर्तन मांजे जाते हैं। और बर्तन मांज कर उनमें खाना पड़ोसते हैं। इसी प्रकार देवताओं के यज्ञ का चलन है। अर्थात् हवियों का पकाना, वेदि का बनाना, उनके बर्तनों तथा स्रुवों (को मांजना)।

३—स यत्सम्मार्ष्टि। निर्णेनेक्त्येवैना एतन्निर्णिक्ताभिः प्रचराणीति तद्वै द्वयेनैव देवेभ्यो निर्णेनिजत्येकेन मनुष्येभ्योऽद्भिश्च ब्रह्मणा च देवेभ्यऽआपो हि कुशाब्रह्मयजुरेकेनैव मनुष्येभ्योऽद्भिरेवैवमेतन्नाना भवति।

(३) वह जब मांजता है तो मानों शुद्ध करता है। यह सोचकर कि इन मांजे या शुद्ध किये हुये पात्रों को बर्तूंगा देवताओं के लिये दो चीजों से मांजता है और मनुष्यों के लिये एक से ही। देवताओं के लिये पानी से और ब्रह्म (वेद मंत्रों) से। जल कुश है और ब्रह्म यजु है। मनुष्यों के लिये केवल एक से अर्थात् जल से। इस प्रकार यह रीति भेद हो जाता है।

४—अथ स्रुवमादत्ते । तं प्रतपति प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातय इति वा ।

(४) अब वह स्रुवों को लेता है और गर्म करता है, नीचे के मंत्रांशों में से एक को जप कर :—

प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो "निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता, अरातयः । (यजु० १।२९)"

"झुलस गया राक्षस झुलस गये शत्रु"

"जल गया राक्षस, जल गये शत्रु ।"

५—देवा है वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्तद्यज्ञमुखादेवैताष्ट्रा रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति ।

(५) जब देवों ने यज्ञ रचा तो असुर और राक्षसों के विघ्न से डर गये। इसलिये ऐसा करके वह यज्ञ के आरम्भ में ही दुरात्मा राक्षसों को दूर कर देता है।

६—स वाऽअग्रैरन्तरतः सम्माष्टि । अनिशितोऽसि सपत्नक्षिदिति यथानुपरतो यजमानस्य सपत्नान्क्षिणुयादेवमेतदाह वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मीति यज्ञियं त्वा यज्ञाय सम्मार्ज्मीत्येवैतदाहैतेनैव सर्वाः स्रुचः सम्माष्टि वाजिनीं त्वेति स्रुचं तूष्णीं प्राशित्रहरणꣳ ।

(६) वह घास के अग्रभाग से उसे भीतर मांजता है यह पढ़कर ।

अनिशितोऽसि सपत्नक्षित् (यजु० १।२९)

"तू तेज नहीं किन्तु शत्रुओं को मारने वाला है ।"

वह यह इसलिये कहता है कि यजमान के शत्रुओं का निरन्तर नाश होता रहे ।

अब पढ़ता है :—

वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि ।

(यजु० १।२९)

"तुझ अन्न वाले को अन्न (यज्ञ) के प्रज्वलन के लिये मांजता हूं ।"

अर्थात् तुझ यज्ञ वाले को यज्ञ के लिये मांजता हूँ । इसी प्रकार वह सब स्रुवों को मांजता है ।

स्रुक् स्त्रीलिङ्ग है इसलिये स्रुक को मांजते समय (वाजिनं के स्थान में) "वाजिनी इत्यादि कह कर मांजता है । प्राशित्रहरण (लकड़ी की तश्तरी) को मौन होकर (बिना मंत्र पढ़े) मांजता है ।

७—स वाऽअग्रैरन्तरतः सम्मार्ष्टीति । मूलैर्बाह्यतऽइतीव वाऽअग्रं प्राण इतीवोदानः प्राणोदानावेवैतद्धाति तस्मादितीवेमानि लोमानीतीवेमानी ।

(७) वह इसको भीतर (घास के) अग्रभाग से इस प्रकार* मांजता है। और बाहर जड़ से इस प्रकार* । क्योंकि इस प्रकार* प्राण चलता है और इस प्रकार* उदान । इस प्रकार वह यज्ञ के लिये प्राण और उदान को धारण करता है । (कुहनी के ऊपर के) लोग इस प्रकार होते हैं और (नीचे के) इस प्रकार ।

* यहां 'प्रकार' दिया है अर्थात् भीतर माँजते समय अपनी ओर बर्तन की ओर और बाहर मांजते समय बर्तन की ओर से अपनी ओर ।

पृष्ठ संख्या ३८२ मूल्य १।।)

अद्वैतवाद

लेखक

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०

लेखक ने कई वर्षों के उत्कट परिश्रम के बाद यह पुस्तक लिखी है। शंकर के अद्वैतवाद ने जनता पर जादू कर दिया है, परन्तु यह मत न तो वेदों के ही अनुकूल है और न युक्तियों से ही जँचता है। इसमें स्वप्न, माया, ईश्वरैक्यवाद, कारणैक्यवाद, वस्त्वैक्यवाद, सत्ता और एकीकरण, पर विद्वत्ता पूर्ण टिप्पणियां दी गई हैं। अन्त में वेद, तथा उपनिषदों से प्रमाण दिये गये हैं जिनसे अद्वैतवाद का खण्डन हो जाता है। अभी तक ऐसी महत्वपूर्ण पोथी दूसरी नहीं निकली। अवश्य मंगाइये।

मिलने का पता :—

कला प्रेस, प्रयाग।

Rgd. No. 2041

Printed & Published by Ganga Prasad (Editor) at the Kala Press, Zero Road, Allahabad.